ऐतिहासिक लेखमाला

इतिहासज्ञ स्व. जगदीशसिंह गहलोत के राजस्थान के
राजवंशों तथा तत्संबंधी विषयों पर
शोध-पूर्ण लेखों का संग्रह

भूमिका लेखक
प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी
अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास व संस्कृति विभाग
सागर-विश्वविद्यालय

सम्पादक
विजयसिंह गहलोत

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य मन्दिर
मेड़ती गेट के अन्दर, जोधपुर (राज.)

सम्मतियां

डॉ० सत्यप्रकाश

निदेशक, पुरातत्व एवं संग्रहालय विभाग, राजस्थान राज्य, जयपुर ।

"स्व० जगदीशसिंह गहलोत द्वारा लिखित लेखों का यह संग्रह उनके राजस्थानी-संस्कृति के प्रति अध्ययन का अच्छा प्रमाण है । इसमें प्रतिपादित विषय, उनके समय तक की प्राप्त समस्त सामग्री को अपने में स्थान देते हैं ।

श्री गहलोत ने इस लेख संग्रह में कुछ ऐसे महत्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश डाला है जो अब तक शोध के विषय बने हुए हैं । आज से काफी समय पूर्व राजस्थानी संस्कृति एवं इतिहास के महत्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश डालने का साहस करना श्री गहलोत की लगन एवं उनके परिश्रम के सराहनीय प्रयास है ।

लेख सुपाठ्य हैं एवं राजस्थान के इतिहास के प्रति पाठकों में जिज्ञासा उत्पन्न करने वाले विषयों से सम्बन्धित होने के कारण अनुपम सामग्री के भण्डार हैं । मैं इस संकलन के प्रकाशकों एवं सम्पादक को बधाई देता हूँ ।"

• • •

प्रो० डा० गोपीनाथ शर्मा

इतिहास विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय ।

"इस ऐतिहासिक लेखमाला में कुछ महत्वपूर्ण लेख संग्रहित हैं जो राजस्थानी संस्कृति और इतिहास की एक झांकी प्रस्तुत करते हैं । इसमें 'राजपूत' शब्द, राजपूतों तथा उनके वंशों की उत्पत्ति, क्षात्र-शक्ति के पतन के कारण आदि विषयों की ओर संकेत के द्वारा लेखक ने शोध के प्रति रुचि रखने वालों को नई प्रेरणा देने का सफल प्रयत्न किया है । मेरी मान्यता है कि इस माला के प्रसून ऐतिहासिक अध्ययन के वातावरण को सुरभित करने में बड़े उपादेय सिद्ध होंगे ।"

लेखक

इतिहास विभूति
स्व० जगदीशसिंह गहलोत

सूची

(नौ चित्रों और दो नक्शों को यथा स्थान दिया गया है)

भूमिका

(ले० प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी)

भारतीय इतिहास में उस भूभाग का महत्वपूर्ण स्थान रहा है जो इस समय तीन प्रदेशों—गुजरात, राजस्थान तथा हरयाना—में विभक्त है। पिछले बीस वर्षों में इस क्षेत्र में किये गये पुरातत्वीय सर्वेक्षणों तथा उत्खननों से प्रागैतिहासिक काल से लेकर ईसवी बारहवीं शती तक के दीर्घकालीन इतिहास पर प्रभूत प्रकाश पड़ा है। बीकानेर क्षेत्र के काली बंगन नामक स्थान में की गई खुदाई से जिन संस्कृतियों का उद्घाटन हुआ है उनमें से एक हड़प्पा-संस्कृति से पहले की सिद्ध हुई है। सरस्वती तथा दृषद्वती नदियों के काँठों में की गई खोजों से वैदिक एवं प्राग्वैदिक सभ्यताओं के अनेक स्थलों का पता चला है। अहाड़, रुपड़, अगरोहा, बैराट, मध्यमिका, सुध, देवनीमोरी आदि स्थानों में किए गये उत्खननों से जिस काल की सभ्यता का व्यापक ज्ञान हुआ है उसका समय ईसवी पूर्व द्वितीय सहस्त्राब्दी से लेकर गुप्त काल के अन्त तक है। इन उत्खननों से उपर्युक्त विस्तृत क्षेत्र की प्राचीन नगर निर्माण-योजना, आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था, राजनीतिक स्थिति तथा ललित कलाओं के बारे में जानकारी मिली है, जो पहले अज्ञात थी।

इस क्षेत्र में राजपूत शासकों के अभ्युदय के पूर्व विविध रूपों में नृपतंत्र एवं गणतंत्र के अस्तित्व का पता चला है मौर्य साम्राज्य के विश्रृंखलन के पश्चात् यह भूभाग अनेक स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त होगया। जिन गण-तन्त्रात्मक शक्तियों ने यहाँ अपने शासन स्थापित किये उनमें यौधेय, मालव, आर्जुनायन, राजन्य, सेनापति, शिवि, वृष्णि, अग्रोदक आदि नाम उल्लेख-नीय हैं। ईसवी पूर्व तीसरी शती के अन्तिम चरण से लेकर गुप्त सम्राट समुद्र गुप्त की दिग्विजय के पूर्व तक इन गणराज्यों का शासन विवेच्य क्षेत्र के विभिन्न भागों पर रहा। इसका पता अभिलेखों, सिक्कों, मुद्राओं तथा साहि-त्यिक एवं विदेशी यात्रियों के विवरणों से चला है। काठियावाड़, गुजरात

तथा दक्षिण पश्चिमी राजस्थान पर विदेशी क्षहरातों तथा शक क्षत्रपों का अधिकार कई शताब्दियों तक बना रहा। यद्यपि इन विदेशियों द्वारा भारतीय संस्कृति को बहुत कुछ अपना लिया गया और वे कालान्तर में पूर्णतया भारतीय नागरिक बन गये तो भी उनके साथ यौधेयों, मालवों, सातवाहनों, आदि के संघर्ष दीर्घकाल तक जारी रहे। ईसवी चौथी शती के अन्त में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने इन विदेशियों के शासन का उन्मूलन कर दिया।

गुप्त शासन के बाद जिस प्रमुख शक्ति का इस क्षेत्र के बड़े भाग पर प्रभुत्व स्थापित हुआ वह गुर्जर प्रतीहार राजवंश था। क्रमशः अन्य क्षत्रिय राजवंशों का भी उदय हुआ। सातवीं शती से अठारहवीं शती तक के दीर्घकाल में इन राज्यवंशों का शासन विवेच्य क्षेत्र के विभिन्न भागों में स्थापित रहा। प्राचीन भारतीय राजनीतिक एवं सांस्कृतिक मान्यताओं का पालन करते हुए इन राजवंशों ने धर्म, दर्शन, भाषा, साहित्य तथा ललित कलाओं की अभिवृद्धि में असाधारण योग दिया जो भारतीय इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा। इन राजवंशों ने राष्ट्रीयता की रक्षा के लिये विदेशी आक्रांताओं का प्राणप्रण से प्रतिरोध किया। इस प्रतिरोध में कितने ही राजपूत मर मिटे और आगामी पीढ़ियों को वे जीवन मरण का दर्शन दे गये।

सातवीं से अठारहवीं शती तक का इस क्षेत्र का राजनीतिक इतिहास अनेक दृष्टि से महत्वपूर्ण है, प्रस्तुत पुस्तक में राजस्थान के लब्धप्रतिष्ठित इतिहासकार स्व० श्री जगदीशसिंह गहलोत के बीस निबंधों का संग्रह है जो विवेच्यकाल से सम्बन्धित है। प्रारम्भिक दो निबंधों में सिंह तथा राजपूत शब्दों की व्याख्या के पश्चात् तीसरे निबंध में राजपूतों की उत्पत्ति का विवेचन किया गया है। निबंध संख्या ४ से लेकर १३ तक गहलोत, प्रतिहार, सोलंकी, यादव, परमार, राठौड़ आदि राजवंशों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। चौदहवें निबंध में उन मुख्य इतिहासकारों की उपलब्धियों का विवरण है जिन्होंने राजस्थान के सम्बन्ध में लिखा है। निबंध संख्या १५ में बाँकीदास की ऐतिहासिक बातों की चर्चा तथा १६ में महाकवि चंदबरदाई सम्बन्धी विवेचन है। १७ से १९ तक के फुटकर निबंधों में क्रमशः जयचन्द्र, प्रथम स्वातन्त्र्य संग्राम तथा एक प्रमुख देवी प्रतिमा के विषय में

जानकारी दी गई है। वीसवाँ निवन्ध इतिहास के महत्व का परिचायक है। अंतिम इक्कीसवें निवंध में क्षात्र शक्ति के पतन के कारणों का विस्तृत विश्लेषण किया गया है।

उक्त निबंधों में प्रायः सर्वत्र लेखक का गहन अध्ययन, पैनी सूझ तथा वैज्ञानिक विवेचन द्दष्टव्य है। ये निवंध उस काल में लिखे गये जब कि इतिहास लेखन की नवीन वैज्ञानिक शैली अपनी प्रारंभिक अवस्था में थी। प्रायः सभी निवंधों के लिखने में विद्वान लेखक ने उपलब्ध सामग्री की स्वयं जांच-पड़ताल की है। अपने पूर्ववर्ती विद्वानों के मतों का उसने ससम्मान उल्लेख किया है। विना किसी दुराग्रह के उसने विभिन्न मतों की समीक्षा कर यथा अवसर अपना विचार प्रतिपादित किया है। इस प्रकार ऐतिहासिक तथ्यों तथा विद्वानों के विचारों को सप्रमाण प्रस्तुत किया गया है। राजपूतों की उत्पत्ति के संबंध में उसका यह मत ग्राह्य प्रतीत होता है कि राजपूत-वर्ग वैदिक क्षत्रिय वर्ण का उत्तराधिकारी है। काठियावाड़, गुजरात, राजस्थान, तथा हरयाना की वर्तमान संस्कृति में कुछ विदेशी तत्व दृष्टव्य हैं। क्षहरातों, शक-क्षत्रपों, हूणों आदि का इस क्षेत्र में एक लम्बे समय तक निवास रहा है, जिसके कारण इन तत्वों का होना स्वाभाविक ही है। परन्तु राजपूतों को विदेशी मानना उपयुक्त प्रमाणों के अभाव में युक्ति संगत नहीं। क्षात्र-शक्ति के पतन के कारणों का सही विश्लेषण उसके लेखक (सम्पादक) ने किया है। परन्तु इस पतन में राष्ट्रीय भावना का लोप मुख्य कारण नहीं माना जा सकता, स्वतंत्रता तथा राष्ट्रीयता की भावना तो राजपूतों में अन्तिम समय तक रही, पर देशकाल के अनुरूप उन्होंने अपनी राजनीति, सैन्य-संगठन और आर्थिक व्यवस्था को नहीं बनाया। उनकी संकुचित भावनाओं और अत्यन्त विलासमय जीवन ने उन्हें परतन्त्रता भी ओर ढ़केल दिया। पुस्तक के सभी निवंध विचारोत्तेजक हैं। भारतीय इतिहास की शोध में वे वहुत सहायक होंगे।

वसंत पंचमी, वि० सम्वत् २०२[illegible]
सागर-विश्वविद्यालय. कृष्णदत्त वाजपेयी

'इतिहास विभूति' स्व० जगदीशसिंह गहलोत

लेखक का संक्षिप्त परिचय

(राजस्थान इतिहास परिषद् की स्मारिका से साभार)

"अन्तिम हिन्दू सम्राट हर्ष की मृत्यु के बाद से उन्नीसवीं सदी के आरंभ तक राजपूताना एक विस्तृत रणक्षेत्र रहा। यहाँ का इतिहास शौर्य, साहस, देशभक्ति और आत्मत्याग का इतिहास है लेकिन राजपूताने के सम्पूर्ण इतिहास का हिन्दी में अभाव था। स्व० जगदीशसिंह गहलोत ने "राजपूताना का इतिहास" लिख कर इस अभाव की पूर्ति की। गहलोतजी ने संस्कृत की पुस्तकों, फारसी तवारीखों, शिलालेखों, ताम्रपत्रों, सिक्कों, ख्यातों आदि के आधार पर इस इतिहास की रचना की है। राजपूताने की प्रत्येक रियासत का भौगोलिक व ऐतिहासिक वर्णन, प्रजा की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक व वित्त संबंधी स्थिति का विस्तारपूर्वक वर्णन आपके द्वारा ही किया गया है।

"राजपूताना का इतिहास" श्री गहलोतजी के अथक परिश्रम व अध्यवसाय का ही द्योतक है। जोधपुर के इस यशस्वी इतिहासकार ने इतिहास, पुरातत्व और साहित्य की साधना में अपने जीवन का अमूल्य समय अर्पित कर दिया। पुरुषार्थ ही इनके जीवन का मूल-मन्त्र था। पढ़ना और लिखना ही इनका प्रिय कार्य था। जोधपुर-बीकानेर खण्ड के पुरातत्व-विभाग के अध्यक्ष पद पर कार्य करते हुए भी आप अपनी साहित्य साधना में रत रहते थे। राजपूताने के इतिहास के अतिरिक्त मारवाड़ राज्य का इतिहास, इतिहास सहायक पंचाग, भारतीय नरेश, राजस्थान का सामाजिक जीवन, मारवाड़ का संक्षिप्त वृतांत, मारवाड़ के ग्राम-गीत, राजस्थान की कृषि कहावतें आदि अनेक पुस्तकों की आपने रचना की। आपकी कृतियों का बहुत सम्मान हुआ और देश के मूर्धन्य इतिहासकारों, पत्रकारों तथा साहित्यकार ने आपकी प्रशंसा की। उदयपुर महाराणा ने २,०००), डूंगरपुर नरेश ने १२००) तथा प्रतापगढ़ नरेश ने ५००) रुपये के पुरस्कार प्रदान कर आपका सम्मान किया। राजपूताने के प्रसिद्ध इतिहासकार रायबहादुर डा० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने लिखा था "मारवाड़ राज्य का ऐसा सुन्दर, सचित्र आद्योपान्त वर्णन आज तक हिन्दी भाषा में हमें दृष्टिगोचर नहीं हुआ। विचार निर्भीकता और देशप्रेम स्थान-स्थान पर झलकता है।" स्व० श्री मदनमोहन मालवीय ने श्री गहलोतजी की प्रशंसा करते हुए लिखा

था—"जोधपुर राज्य के लिये एक संतोष व गर्व की बात है कि उस राज्य का एक सपूत इतनी प्रसिद्धि प्राप्त इतिहासवेता है।"

श्री गहलोत निर्भीक, निडर एवं ओजस्वी व्यक्ति थे। आपकी रचनाओं में राष्ट्रप्रेम तथा समाज कल्याण की भावना व्यक्त हुई है। आर्य समाज के सक्रिय कार्यकर्त्ता होने के नाते आप उसकी गतिविधियों में प्रमुख भाग लेते थे। जोधपुर के सरकारी अजायबघर में राष्ट्र निर्माताओं के तेल चित्रों की एक गेलेरी जोड़ने का श्रेय आपको ही है। "तरुण राजस्थान" साप्ताहिक पत्र में आपने राजस्थानी भाषा का प्रबल शब्दों में समर्थन किया था। ई० सन् १९२५ में "मारवाड़ी मित्र" नामक राजस्थानी मासिक पत्र का सम्पादन भी इन्होंने किया था। जोधपुर को अपने इस यशस्वी सपूत पर आज भी गर्व है।"

सम्पादकीय निवेदन

स्वर्गीय इतिहासज्ञ श्री जगदीशसिंहजी गहलोत ने राजस्थान के इतिहास और संस्कृति के संबंध में अविरल अन्वेषण करके विशाल सामग्री का संग्रह किया था। अपने जीवनकाल में उन्होंने प्रान्त की चप्पा-चप्पा भूमि पर भ्रमण करके जो तथ्य एकत्र कर, उन पर शोध करके जो लेख प्रकाशित किए हैं वे बहुत ही मौलिक तथा उपादेय सिद्ध हुए हैं और आज भी अपना महत्व रखते हैं। उनके युग में इतिहास का इतिहास बन रहा था और वे इस ज्ञान-यज्ञ में जुटे हुए रहे। इतिहास जैसे शुष्क विषय में जन रूचि को उत्पन्न करने और ऐसी रूचि को बनाए रखने के लिए उन्होंने अपूर्व योगदान दिया। उनके कई सौ लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में उनके चालीस वर्षों के लेखनकाल में प्रकाशित हुए हैं। इस प्रकाशित लेख-सामग्री के अतिरिक्त, उनके कई ग्रंथ भी प्रकाशित हुए हैं।

'राजपूताने का इतिहास' नामक ग्रंथ के प्रणेता के रूप में स्व० गहलोतजी देश तथा विदेशों में बहुत प्रसिद्ध हुए। राजस्थान के पूर्ण इतिहास को लिखने एवं प्रकाशित करने का श्रेय इन्हीं को प्राप्त हुआ है। उनके जीवन का संकल्प था कि वे प्रान्त का सम्पूर्ण इतिहास लिखेंगे और अपने दृढ़ पुरुषार्थ से उन्हें पूर्ण सफलता मिली। इस भगीरथ कार्य को सम्पन्न करने के कारण वे स्वयं इतिहास के स्तम्भ बन गए हैं। वे अपने संस्मरण अपनी डायरी में लिखा करते थे और जब उनको पढ़ते हैं तो रोमांचित हो जाते हैं कि उनकी उस दुबली सी देह में कितनी कष्ट सहने की क्षमता, साधना की लग्न और अपने संकल्प में विश्वास था। क्षणिक रुग्ण काल के पश्चात, जब दैहिक जीवन यात्रा को समाप्त करने का अवसर आया, तो वे बहुत जागृत एवं भावुक बन गए थे। उन्होंने अपना 'अन्तिम-निवेदन' भी बोलकर लिखवाया था और उसे शीघ्र ही प्रकाशित कर, उनके आदेश का पालन भी किया गया था। उनके संस्मरण, जीवन-प्रसंग, अन्तिम-निवेदन आदि का अवलोकन करने पर, उनके व्यक्तित्व का वह निखरा रूप प्रकट होता है जो आने वाले अनेक शोधरत विद्वानों के लिए आलोक-स्तम्भ बनकर प्रेरणा देता रहेगा। ऐसे प्रतिभा सम्पन्न, पुरूषार्थी, कृत संकल्प व चरित्रनिष्ठ इतिहासकार का जीवन भी स्वयं एक इतिहास है, जिसकी महानता का मूल्यांकन अब हो रहा है।

स्व. गहलोतजी के विशाल सामग्री भाण्डार से उनके लेखों को बड़े परिश्रम से खोजकर, "निबन्ध संग्रह" की योजना बनाई है। जो भी निबन्ध प्राप्त हुए हैं उनको कई खंडों में विभाजित किया है और इतिहास संबंधी लेखों का यह संग्रह प्रस्तुत हो रहा है। कई निबन्धों के कटिंग ही प्राप्त हुए हैं जिससे उनका प्रकाशन काल अथवा प्रकाशन स्थल, ज्ञात नहीं हो सका। इस कारण निबन्धों के अंत में यह व्यौरा नहीं दिया जा सका। अगले संस्करण तक यह जानकारी हो जावेगी, तब यह विगत दे सकेंगे। बहुत संभव है इस प्रकार के लेख और भी प्राप्त हो जावें तो उनको भी स्थान दे दिया जावेगा। गुजराती, मराठी एवं अंगरेजी में कुछ लेख प्रकाशित हुए हैं। इनके हिन्दी अनुवाद भी अगले संस्करण में देने का विचार है। सारे निबन्ध लगभग आठ खंडों में (विषयानुसार) प्रकाशित करने की योजना है। इस संग्रह के सम्पादन में कुछ कमियां खटकने वाली हैं पर प्रकाशन को आगे टालने की न सोचकर, तत्काल-साध्य ध्येय की और ही अधिक ध्यान दिया है।

अंत में, मैं अपने पूज्य गुरु प्रो. कृष्णदत्तजी वाजपेयी का सदैव की भाँति चिर ऋणी हूँ जिन्होंने भूमिका लिखकर इस संग्रह की शोभा बढ़ाई है। भूमिका में राजस्थान प्रान्त का जो सुलझा हुआ स्वरूप अंकित हुआ है, वह स्वयं में एक मौलिक रूप को प्रस्तुत करता है। इसके लिए भी हम सभी उनके ऋणी हैं।

ऐतिहासिक निबन्ध संग्रहों के पाठक भी कम मिलते हैं और ऐसे प्रकाशन आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद भी नहीं होते हैं। अस्तु इस प्रकाशन को प्रकट करने में जिस लग्न और साहस का परिचय प्रकाशक ने दिया है, वह प्रशंसनीय है। इन निबन्धों का सम्पादन मेरे लिए एक पुण्य-कार्य भी है। मुझे स्वर्गीय इतिहासकार के वंश का पौत्र होने का सौभाग्य है और परम्परा को निभाने की चेष्टा करके, मैंने अपने कर्तव्य को निभाया है। अन्तिम लेख मेरा लिखा है और इतिहास के अध्ययन में चंचु प्रवेश का यह प्रयास दादाजी के आशीर्वाद का ही फल है। कामना यही है कि उनकी इच्छाओं के अनुरूप हम सिद्ध हों और इतिहास की सेवा में रत रहें।

विदुषामनुचरः

विजयसिंह गहलोत

'सिंह' शब्द

"सिंह" शब्द क्षत्रि (राजपुत्रों) के नामों के अन्त में लगाना बहुत ही प्रचलित है। नामों के अन्त में लगाने के विषय में इस शब्द की उत्पत्ति कब हुई, इतिहास मौन है। 'सिंह' संस्कृत का शब्द है, जिसका अर्थ होता है श्रेष्ठ (सिंह के समान)। महाभारत व पुराणकालीन युग में हमें ऐसा कोई नाम नहीं मिलता जिसके अन्त में 'सिंह' लगा हो, यहां तक कि क्षत्रियों के किसी वंश में भी नहीं। महाराजा रामचन्द्र, श्रीकृष्ण, युधिष्ठर, अर्जुन आदि क्षत्रिय राजाओं के नाम के अन्त में भी 'सिंह' पद नहीं पाया जाता। इसी कारण इतिहासकार इस शब्द के विषय में कई अनुमान लगाते रहे हैं।

प्रथम 'सिंह' बुद्ध

भारतीय इतिहास में आज से करीब 2500 वर्ष पूर्व हमें सर्व प्रथम सिंहान्त नाम मिलता है, "शाक्यसिंह"। यह नाम शाक्यवंशी नरेश शुद्धोदन के सुप्रसिद्ध पुत्र गौतम बुद्ध को दिया गया था। यह उसका नाम न होकर उपनाम ही ठीक जचता है। गौतम बुद्ध 'शाक्यसिंह' शाक्य वंश के क्षत्रियों में श्रेष्ठ होने के कारण कहलाते थे—

> सं शाक्यसिंहः सर्वार्थसिद्धः शौद्धोदनिश्चसः
> गौतमश्र्चार्क वन्धुश्च मायादेवी सुतश्चसः ॥15॥
>
> अमरकोषः प्रथमकाण्ड, स्वर्ग वर्ग।

'सिंह' सदा से ही अपनी श्रेष्ठता, शक्ति आदि के कारण अग्रणी रहा है। इसी कारण 'सिंह' के पर्याय शब्द भी विभिन्न नामों से प्रयोग किये जाते रहे हैं। जो उनके उपनाम ही प्रतीत होते हैं यथा क्षत्रिय पुंगव, राजशार्दूल।

नाम के अन्त में 'सिंह' शब्द मिलता है सम्राट विक्रम (ई० पूर्व 57 के लगभग) के राज्य सभासद अमरसिंह के नाम में। यह विक्रम के नवरत्नों में एक जैन साधु था जिसने 'अमरकोष' की रचना की। इसके वाद हमें लगभग 200 वर्ष तक कोई इस प्रकार का नाम नहीं मिलता। द्वितीय सदी के आरम्भ में हमें गुजरात, काठियावाड़, राजपूताना, मालवा, दक्षिण आदि

देशों पर राज्य करने वाले मध्य एशिया शाकद्वीप (ईरान) की शाक्य जाति के क्षत्रप वंशी महाप्रतापी राजा रुद्रदामा के दूसरे पुत्र महाराजा रुद्रसिंह के नाम के अन्त में 'सिंह' पद वि० सं० 238(ई० सन् 181)में मिलता है[1] और वि० सं० 335 के लगभग इसी वंश का राजा विश्वसिंह, चोथासिंह नामधारी व्यक्ति था। फिर उन्हीं शक क्षत्रपों में रुद्रसिंह (वि० सं० 445) और सत्यसिंह के नाम भी प्राचीन शिलालेखों, ताम्र पत्रों और सिक्कों पर मिलते हैं। काफी समय तक भारत में राज्य करने के कारण इन विदेशी शक लोगों ने यहां के नाम, धर्म और संस्कृति आदि ग्रहण कर लिए और यहां के क्षत्रियों (राजपूत्रों) के साथ शादी भी करने लग गए।[2]

इसके बाद इस तरह के नाम रखने का रिवाज दूसरे राजवंशों में भी चालू हुआ। दक्षिण के सोलंकी क्षत्रियों में जयसिंह नामधारी एक राजा तो वि० सं० 464 (ई० सन् 407) के लगभग और दूसरा वि० सं० 1099 (ई० सन् 1042) में हुआ जिसने अपने नाम के साथ सिंह शब्द का प्रयोग किया।[3] विक्रम की दशवीं सदी में मालवे के परमार राजा वैरिसिंह (प्रथम) ने अपने नाम के पीछे "सिंह" शब्द लगाया।[4] इसी प्रकार 12 वीं शताब्दी में गुहिल (गहलोत) वंशी महाराणा उदयपुर मेवाड़ के पूर्वज जैसे बैरिसिंह, विजयसिंह (वि० सं० 1173), अरिसिंह आदि के नाम के अन्त में 'सिंह' शब्द का प्रयोग मिलता है।[5] कछवाहों में पहले पहल नरवर (ग्वालियर) वाले राजा गगनसिंह, शरदसिंह और वीरसिंह ने 'सिंह' पद लगाया। जैसा कि वीरसिंह देव कछवाहा के वि० सं० 1177 की कार्तिक वदी 30 रविवार (ई० सन् 1120 ता० 21 नवम्बर) के शिला लेख से प्रकट है।[6]

चौहानों में सबसे पहले जालोर (मारवाड़) के राजा समरसिंह का नाम वि० सं० 1239 वैशाख सुदी 5 गुरुवार(ई० सन् 1182 ता० 28 अप्रेल)

---

1 देखो, भावनगर इन्स्क्रिपशन्स पृष्ठ 22 सन् 1885 ई०।

2 देखो, ऐपिग्राफिया इण्डिका भाग 8 पृष्ठ 85।

3. देखो, बम्बई प्रांतीय येवूर का शिला लेख और मीरज का तांबा पत्र, इण्डियन एण्टीक्वेरी भाग 8 पृष्ठ 12 सन् 1879 ई० तथा महामहोपाध्याय रायबहादुर डा० गौरीशकर ओझा कृत 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास' पृष्ठ 15 व 91, वि० सं०1964।

4 देखो, ऐपिग्राफिया इण्डिका भाग 1 पृष्ठ 234 श्लोक 8।

5 देखो, वार्षिक रिपोर्ट राजपूताना अजायबघर, सन् 1915-16 ई० पृष्ठ 3 तथा ऐपिग्राफिया इण्डिका भाग 2 पृष्ठ 10।

6 देखो, जर्नल आफ अमेरिकन ओरियेन्टल सोसायटी, भाग 6 पृष्ठ 542।

के शिला लेख में मिलता है तथा 'सिंह' शब्द लगने लगा । मारवाड़ (जोधपुर) के राठौड़ राजाओं के नाम के आगे तो 17 वीं शताब्दी में राव रायसिंह राठौड़ (1638-40 वि०) से 'सिंह' शब्द लगने लगा। वाद में तो इस तरह के नामों का राठौड़ों में खास तौर से प्रचार हुआ।

मुगलकाल में अधिकाधिक प्रचार

मुगलकाल में 'सिंह' शब्द का प्रचार बढ़ा और राजपूतों के सिवाय अन्य जातियां भी इस शब्द का प्रयोग करने लगीं। 'सिंह' शब्द अब उपाधि नहीं रहा। सिंह का अर्थ अब श्रेष्ठ (सिंह के समान) था, यह भी लोग भूल गये। 'सिंह' से सम्मान और वहादुरी का अर्थ समझा जाने लगा। एक तरफ मुगल और यवन अमीर उमरा, फौजवक्षी, सिपहसालार जंग वगैरा अपने नाम के आगे 'खान' लगाते थे वहाँ हिन्दू वीरों ने अपने नाम के साथ 'सिंह' जोड़ना आरम्भ किया। सिक्खों के दसवें क्रांतिकारी गुरू गोविन्दसिंह (वि० सं० 1722 से 1765) ने तो अपने पन्थ (दल) के लोगों के अन्त में 'सिंह' शब्द अनिवार्य रूप से लगाया। यही रिवाज आज तक सिक्ख सम्प्रदाय में चला आता है और वे लोग चाहे जाट, राजपूत, कल्लाल (अहलूवालिया) आदि से हरिजन (चमार, मोची, मेहतर आदि) तक हों तब भी 'सरदार' कहलाते और नाम के अन्त में 'सिंह' शब्द जोड़ते हैं। सारांश यह है कि पंजाब के सिक्ख और राजपूताने के राजपूत क्षत्रियों में 18 वीं सदी से 'सिंह' शब्द का प्रचार वढ़ा। इसे 'यथा नाम तथा गुण' की उक्ति के अनुसार वीरता का पोषक समझकर दूसरी कौमों के व्यक्ति-विशेष ने भी 'सिंह' शब्द लगाया। जैसे जोधपुर के महाराजा अजीतसिंह राठौड़ (वि० सं० 1763 से 1781) के दीवान दिल्ली वाले कायस्थ (पंचोली) केसरीसिंह झामरिया, महाराजा अभयसिंह राठौड़ (वि० सं० 1781 से 1806) के कामदार (दीवान) ओसवाल वैश्य रतनसिंह भण्डारी आदि।

19 वीं शताब्दी के आरम्भ में राजपूताने के उदयपुर, जोधपुर और जयपुर राज्यों ने इस 'सिंह' शब्द को विशेष महत्व देकर राजपूतों के सिवा अन्य वर्ण के उच्च राजकर्मचारियों को भी इस शब्द से वंचित कर दिया और जो कोई उपयोग करता उसकी वड़ी खोज खाज की जाती थी। यही नहीं शुद्ध राजपूतों में भी यदि राज्य किसी को राजद्रोही, गद्दार (वागी) या निम्न श्रेणी (खवास या पासवान) में करार दे देता तो उसे व उसके वंशजों को भी राज्य के रेकार्ड (कागज पत्रों) में 'सिंह' शब्द नहीं लिखता था और उसे नाम के अन्त में 'करण' आदि लगाने को वाध्य करता था।

इस उपरोक्त वृत्तान्त से पता लगेगा कि बौद्धकाल से गुप्तकाल ७ वीं शताब्दी तक तो 'सिंह' शब्द उपाधि रूप में ही रहा। फिर दसवीं सदी से अठारवीं सदी तक वीरता सूचक बना। फिर राजपूतों ने इस पर अधिकार कर लिया। अभी पिछले समय से साधारणतया कुछ जातियाँ बिना किसी भेदभाव के इसे लगाने लगीं। अब तो उत्तरप्रदेश के ब्राह्मण-वनिये, राजपूताने के चारण, भाट, राजगुरु पुरोहित, दरोगा (रावणा) आदि सभी जातियाँ इसे लगाने लगी है।

(साप्ताहिक 'कांग्रेस सन्देश', 8 नवम्बर, 1954)

2

राजपूत कौन हैं ?

राजपूत शब्द का उच्चारण करते ही "राजपूताना" स्मृति पटल पर तुरन्त ही आ जाता है। राजपूताना राजपूत जाति का मुख्य केन्द्र है। भारतवर्ष के इतिहास में राजपूत जाति और "राजपूताना" का एक विशेष स्थान है। इस समय भी राजपूत भारतवर्ष की वीर जातियों में माने जाते हैं। ईसा की शताब्दी के पूर्व राजपूतों को "क्षत्रिय" नाम से पुकारते थे और हिन्दुओं में पराक्रमी जाति यही थी जिसके हाथ में भारतवर्ष भर की सत्ता थी और जिससे अरब, अफगान और तुर्क आदि विदेशी जातियों को उत्तर पश्चिम भाग से आकर टक्कर लेनी पड़ी थी। 7 वीं शताब्दी से लगाकर

18 वीं शताब्दी तक भारतवर्ष में बड़ा संघर्ष का समय था । अरब के आक्रमणकारी मुसलमान योद्धाओं ने प्रथम तो सिन्ध में इन राजपूतों से लोहा लिया, बाद में महमूद ग़ज़नी, गौरी, खिलजी वंशों आदि ने इनको दबाने की चेष्टा की, फिर तुर्क व मुगलों ने भी । लेकिन जिस प्रकार सोना तपाने से ही कुन्दन बनता है, वृक्ष की जहां से डाली काटी जाती है, वहां से दस नई पैदा हुआ करती हैं, चन्दन घिसे जाने पर सुगन्ध देता है, चिराग जल कर प्रकाश करता है, ठीक वैसे ही यह लोग भी आपत्ति में अपने देश व मातृ भूमि की रक्षा के लिए, आन और स्त्रियों के मान के लिए, जीवन न्यौछावर करते रहे और अपना स्वतंत्र जीवन किसी न किसी रूप में कायम रखा । दुख से कहना पड़ता है कि जिस प्रकार से ब्रिटिशकाल में वीर राजपूतों का पराभव और पतन हुआ है वैसा कभी भी नहीं हुआ । राजपूतों का आदर्श सिर्फ यही रहा है कि जीवन संग्राम में विजय पाकर ख्याति के साथ मरना हमारा धर्म है न कि घर में खटिया पर जराजीर्ण होकर प्राण छोड़ना । मुगलों के अन्तिम काल तक हमने राजस्थान की हवा में उच्च कोटि का वीरत्व देखा था पर वह यकायक आंग्ल कला से ऐसा छूमन्तर हो गया कि लिखते दुख होता है, इसका मुख्य कारण है अपने प्राचीन रीति रिवाजों, आचार विचारों को छोड़ना । अपनी राज्य पद्धति तथा शिक्षा की कमी ने भी इसका साथ दिया । आपस में ही जाति भेद आरम्भ होने के कारण एकता का अभाव हो गया और पारस्परिक युद्ध होने लगे । इसी कारण वह कभी विदेशी शक्तियों से पूर्णतया लोहा न ले सके और अपनी स्वतंत्रता धीरे धीरे खो बैठे । बहु विवाह तथा मद्यपान का रिवाज इनका पूर्णतया संहार कर बैठा । इसी कारण बड़े-बड़े राज्य नष्ट हो गये और होते जा रहे हैं ।

प्राचीन ग्रन्थों में न तो राजपूत जाति का ही उल्लेख है और न राजपूताने का । राजपूत शब्द संस्कृत के 'राजपुत्र' शब्द का अपभ्रंश रूप है । यह शब्द क्षत्रिय जाति के राजकुमारों व राजवंशियों के लिए प्रयोग होता था । इस शब्द का प्रयोग महाभारत, कौटिल्य के अर्थशास्त्र, अश्वघोष के ग्रन्थों, बाणभट्ट के हर्ष चरित्र तथा कादम्बरी में तथा प्राचीन शिला लेखों तथा दान पत्रों में हुआ है । देश का शासन क्षत्रिय जाति के ही हाथों में रहता था । अतः इसी जाति के लोगों का नाम मुसलमानी काल में जाकर लगभग 14 वीं शताब्दी में 'राजपूत' हो गया । पुराणों में सिर्फ राजपुत्र शब्द आता है जैसे कि ब्रह्मवैवर्त पुराण के ब्रह्म खण्ड में एक श्लोक है:—

"क्षत्रात्करण क्न्याया राजपुत्रों बभूवह"

अर्थात क्षत्रिय पुरुष से करण कन्या में जो पुत्र पैदा होवे उसे राजपूत कहते हैं।

परन्तु पुराण एक गपोड़ गाथाओं का भण्डार है जो सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ व संस्कृत के विद्वान पं० चिन्तामणी विनायक वैद्य के मतानुसार ई० सन् 300 से 900 के बीच बने हैं। पुराणों को शुद्ध इतिहास का महत्व नहीं दिया जा सकता और सम्भव है कि राजपूत जाति के किसी द्वेषी ने अपमान सूचक श्लोक जोड़ दिया है जिससे उसने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वैश्य पुरुष और शूद्र कन्या से उत्पन्न हुये को कर्ण कहते हैं और ऐसी 'कर्ण' कन्या से क्षत्रिय के सम्बन्ध से राजपुत्र (राजपूत) पैदा हुआ अर्थात राजपूत जाति को इसमें मिश्रित वर्ण बनाने की चेष्टा की है जिसको कोई सभ्य पुरुष नहीं मान सकता।[1]

जिस प्रकार राजस्थान या राजपूताना प्रदेश ब्रिटिश काल की रचना है[2] इसी प्रकार राजपूत का राजपुत्र शब्द मुसलमानी शासनकाल के पूर्व के इतिहास ग्रन्थों में नहीं मिलता है। हाँ ! इनके स्थान पर क्षत्रिय जाति का उल्लेख पाया जाता है। हमारे प्राचीन इतिहास और साहित्य में क्षत्रिय जाति का वही स्थान है जो इस समय राजपूत जाति का माना जाता है। वास्तव में क्षत्रिय और राजपूत जुदी जुदी जातियों के नाम नहीं है, पर यह मानने के पूर्व कि राजपूत ही क्षत्रिय हैं हमें यह सिद्ध करना होगा कि क्षत्रियों का राजपूत नाम कैसे पड़ गया।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, जब भारतवर्ष पर मुसलमानों का आक्रमण हुआ और उनकी अरबी सभ्यता और उनके मत का नया तूफान आया, तब उस वक्त के क्षत्रिय राजाओं ने मुकाबला करने का भरसक प्रयत्न किया, परन्तु वे आपस की फूट के कारण इस तूफान को रोकने में असमर्थ रहे। परिणाम यह हुआ कि मुसलमानों का सिक्का भारत पर बैठ गया जिन्होंने इस देश के पूर्व राजाओं का नाम सामन्त या राजपुत्र रक्खा। राजपुत्र शब्द का अर्थ "राजकीय वंश में पैदा हुआ" है। इसी का अपभ्रंश

---

1 विष्णुपुराण (अध्याय 24) और श्री मद्भागवत (अध्याय 1 श्लोक 8) में लिखा है कि शिशु नागवंश के अन्तिम राजा महानंद। (विक्रम संवत से 264 वर्ष पूर्व) के पीछे प्रायः शूद्र और अधर्मी राजा होंगे, यह सर्वथा ही कपोल कल्पना है।

2 विलियम फ्रेंकलिन, मिलीट्री मेमाअर्स आफ मिस्टर जार्ज टामस, पृ० 347 सन् 1805 ई० (लन्दन संस्करण) तथा मेरा लिखा "राजपूताने का इतिहास", पृष्ठ 1 सन् 1937 ई०।

"राजपूत" शब्द है जो बाद में धीरे धीरे मुगल बादशाहों के अहद से या कुछ पहिले 14 वीं शताब्दी से, बोल चाल में क्षत्रिय शब्द के स्थान पर व्यवहार में आने लगा। इससे पहिले राजपूत शब्द का प्रयोग जाति के अर्थ में कहीं नहीं पाया जाता है और जहां इस शब्द का व्यवहार आया है वहां जातिवाचक नहीं किन्तु योद्धा के अर्थ में आया है, यथा-"राजपूत टूट पच्चास रनजीत समर सेना धन्निय", "लग्गो सुजाय रजपूत सीस" [1], "मैं आपको रजपूत हूँ", "रामसिंह बड़ो रजपूत हो," "बुड़गई सारी रजपूती" इत्यादि। अतः राजपूत कोई जाति न थी। मुसलमानों के समय में धीरे धीरे यह शब्द जाति वाचक बन गया। राजपूताना प्रान्त इन क्षत्रिय वीरों का प्रधान राज्य गिना जाने लगा। इसके पश्चात जितनी शासन करने वाली शाखायें फैलीं, उनका सम्बन्ध राजस्थान की मूल शाखा से किसी न किसी रूप में अवश्य है।

अब प्रश्न यह है कि राजपूत लोग, जिन्होंने विदेशी और विधर्मी मुसलमानों का सामना किया और जिनका नाम मुसलमानी आक्रमण से पूर्व राजपूत नाम से नहीं मिलता है, वे लोग कौन हैं? इस विषय में विद्वाना में बड़ा मतभेद है। टॉड, कीलहार्न, फ्लीट, ब्यूल्हर, स्मिथ, जॉनसन, क्रूक आदि विद्वानों ने अपनी अपनी राय इस विषय पर दी है परन्तु वे सब इस पर सहमत हैं कि राजपूत लोग विदेशी आक्रमणकारी लोगों में से थे जिन्होंने भारत में अन्य जातियों की तरह, आकर हिन्दु धर्म में प्रवेश किया और उनमें मिलजुल गये। इन विदेशी इतिहासवेत्ताओं के लेखों की छाया पर निर्भर रहने वाले डा० देवदत्त भाण्डारकर सदृश देशी विद्वानों का कहना है कि राजपूत लोग विदेशी गूजर या बाहर से आई हुई ऐसी ही और किसी जाति से निकले होंगे, इसलिये वे विदेशी हैं। सर्व प्रथम इस सिद्धांत को फैलाने वाले कर्नल टॉड जिन्होंने आज से सवा सौ वर्ष पूर्व सं० 1886 वि० में 'ऐनाल्स ऐंड ऐंटिक्विटीज ऑफ राजस्थान' नामक ग्रन्थ लिखा है। टॉड साहब अपने इतिहास ग्रन्थ में लिखते हैं कि 'राजपूत लोग जाट, सोथियन (शक) और हूण आदि विदेशियों की सन्तान हैं।'[2] इसके प्रमाण में उन्होंने राजपूतों के कई प्रचलित रीति रिवाजों को पेश किया है जो शकों के रीति रिवाजों से मिलते जुलते हैं। सूर्य की पूजा की रस्म, शस्त्र और घोड़ी की पूजा, सती होना आदि ऐसे ही रीति रिवाज हैं।

---

1 पृथ्वीराज रासो।

2 टॉड, राजस्थान, भाग 1 पृ० 73-96 (ऑक्सफोर्ड संस्करण)।

पर कुछ रीति रस्मों के मिलने से ही हम राजपूतों को विदेशी शक हूण आदि असभ्य जाति के नहीं ठहरा सकते क्योंकि प्राचीन वैदिक काल से लेकर आज तक भारतवर्ष में कई मत मतान्तर वदल चुके हैं। इनके अतिरिक्त यह बात विचारणिय है कि आर्य्यों का राज जाने के पीछे यूनानी, शक व मुसलमानों के राज्य यहां रह चुके हैं, ऐसी दशा में समयानुसार क्षत्रिय जाति की रीति रस्मों में अन्तर पड़ना स्वाभाविक है। राजपूतों में कई मुसलमानी रीति रिवाज देखे जाते हैं। ऐसे ही भील आदि जातियों के कई देवी देवताओं को भी राजपूत पूजते हैं, तो क्या इससे यह सिद्ध हो सकता है कि राजपूत पहले मुसलमान थे या भील? प्राचीन आर्य्य क्षत्रियों के कई रीत रस्म अब तक राजपूतों में मौजूद हैं। सूर्य्य की पूजा वैदिक काल से आर्य्य लोगों में प्रचलित थी [1] और जहां जहां आर्य्य लोग पहुंचे वहां इसका प्रचार हुआ। सती होने का रिवाज भी शकों के इस देश में आने से पूर्व का है। पाण्डु की दूसरी स्त्री माद्री सती हुई थी। अश्वमेघ यज्ञ वैदिक क्षत्रियों के समय से यहां होता रहा है और युधिष्ठिर आदि अनेक प्रतापी आर्य्य नरेशों ने ऐसे यज्ञ किये थे। शास्त्र और घोड़ों की पूजा भी प्राचीन समय से लेकर आज तक हो रही है। देखा जाय तो शक आदि विदेशी जातियाँ भी आर्य

---

1 वैदिक समय से लेकर अब तक आर्य शब्द आर्य और महान् व्यक्तियों के अर्थ में सम्बोधित होता चला आया है। आर्य महिलाएं, महारानियें और सम्मानित पुरुषों की ललनायें अपने पतिदेव को 'आर्य पुत्र' या प्राकृत भाषा में 'अज्जय पुत्र' के नाम से पुकारती थीं जैसा कई स्थलों पर महाकवि कालिदास के काव्यों आदि में आता है। इसी प्रकार अब तक भी जैनियों में साध्वियों को 'आरजा' नाम से कहते हैं जो आर्या शब्द का प्राकृत रूपान्तर है। बौद्ध ग्रन्थों में भी जहां कहीं आर्य्य शब्द आया है वह प्रतिष्ठित, विद्वान व श्रेष्ठ पुरुषों के लिये यथा आर्यदेव, आर्यसिंह, आर्य असंग इत्यादि। वैदिक काल में मानव समुदाय के दो वड़े विभाग आर्य और अनार्य (दस्यु-राक्षस) थे। आर्य्य शब्द के स्थान में अब हिन्दु शब्द का प्रयोग होने लगा है। विक्रम संवत की 8 वीं शताब्दी से पूर्व के ग्रन्थों में हमें हिन्दू शब्द नहीं मिलता है। फारसी में 'स' का उच्चारण 'ह' की तरह होता है। इससे फारसी 'सिन्धु' नदी के आसपास के निवासियों को हिन्दू कहते थे इसी कारण वाद में कुल भारतवर्ष के लोग 'हिन्दू' और उनका देश 'हिन्दुस्थान' कहलाने लगा। सम्राट सिकन्दर (ऐलेक्जेन्डर-356-323 ई० पूर्व) के समय के यूनानी लोग सिन्धु को 'इंडू' (इंडज) और वहां के वासियों को 'इंडियन' कहते थे। इस शब्द का भी इतना प्रचलन हुआ कि अन्य यूरोपीय जातियां भी यहां के निवासियों के लिये इंडियन और देश के लिये 'इंडिया' कहने लगे। इस प्रकार आज भी विदेशी लोग भारतवर्ष को इसी नाम से पुकारते हैं।

वंशज ही थी क्योंकि किसी समय समस्त भूमण्डल पर एक वैदिक-धर्म ही प्रचलित था और देश देशान्तर में क्षत्रियों का राज्य था। उस समय ईसाई या मुसलमान मत का जन्म ही नहीं हुआ था और आर्य्य जाति सारे पश्चिमी एशिया से आगे बढ़ कर यूनान या इससे भी परे तक फैल चुकी थी। दूर दूर तक के देशों में उनका आवागमन था और विदेशों के क्षत्रियों से उनका विवाह सम्बन्ध भी था। बड़े बड़े इतिहासिकारों का निश्चित मत है कि उन दिनों भारत का साम्राज्य दूर दूर तक फैला हुआ था जो कि शिला लेखों की खोज से भली प्रकार सिद्ध हो रहा है;

कर्नल आलकॉट लिखते हैं:—

"India, eight thousand years ago sent a colony of emigrants, who carried their arts and high civilization into what is now known to us as Egypt".

Col. Olcott, Theosophist, March 1881 A. D.

अर्थात् भारतवर्ष ने कोई आठ हजार वर्षों के पहले अपने यहां से प्रवासियों का एक दल भेजा था जो अपने साथ भारत की कलाएँ और ऊँची सभ्यता उस स्थान में ले गया था जो आजकल मिश्र (इजिप्ट) के नाम से मशहूर है।[1]

जर्मन महान पुरुष काउन्ट ब्जौर्न्स्टजर्ण (Count Bjornstjerna) का मत है कि:—

"No nation on earth can vie with the Hindus in respect of the antiquity of their civilization and the antiquity of their religion".

Count Bjornstjerna (Theogony of the Hindus, pp. 50)

'संसार की कोई भी जाति अपनी सभ्यता तथा अपने धर्म की प्राचीनता के विचार से हिन्दू जाति के सामने ठहर नहीं सकती।'

ग्रीस के सुप्रसिद्ध विद्वान हेरोडोटस ने अपने ऐतिहासिक ग्रन्थ में लिखा है कि 'भारतीय योद्धा हजरत ईसा से सदियों पूर्व सहस्रों योजनों की यात्रा

1 देखो, थियोसोफिस्ट, मार्च सन् 1881 ई०

कर दूरातिदूर ग्रीस (यूनान) में भी अपने पराक्रम का परिचय देते थे और उन्हीं लोगों ने योरप वालों को सूती कपड़ा बनना सिखाया। ये भारतीय उस प्राचीन काल में भी अपने शौर्य और सद्गुणों के कारण विख्यात थे।'[1]

इस सम्बन्ध में अनेक प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं, पर स्थानाभाव के कारण हम उन पर विस्तृत रूप से विचार नहीं कर सकते। सुप्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता डाक्टर सर आरेल स्टाइन ने सन् 1901 ई० (सं० 1958 वि०)में चीनी तुर्किस्तान से ऐसे करीब 500 लेख खोज निकाले हैं जो खरोष्ठी लिपि में वहां की लौकिक (तुर्की) मिश्रित भारतीय प्राकृत भाषा में हैं[2] और जिनमें मास, दिवस तथा सम्वत् भी लिखे मिलते हैं। इन शिला लेखों में 'सार्व भौम महाराज भट्टारक' और 'परमेश्वर महानुभाव देवपुत्र' आदि शब्दों का उल्लेख मिलता है।[3] इससे यह सिद्ध होता है कि भारत के राजाओं ने वहां तक का प्रदेश भी अपने आधीन किया था। पश्चिम में काबुल,[4] ईरान और एशिया माईनर में इस तरह के लेख पाये जाते हैं जिनमें शिला लेखों के खुदवाने वाले राजाओं के पिता और दादा के आर्य्य (हिन्दू) होने का उल्लेख मिलता है।

पारसियों की जन्दावस्ता का यह 'जन्द' शब्द 'छन्द' का ही अपभ्रंश है। जन्दावस्ता और वेद के बहुत से मन्त्र परस्पर मिलते हैं। वेद में मन्त्रों को छन्द नाम से भी पुकारा है। सर डबल्यू० जोन्स लिखते हैं कि—

"I was not little surprised to find that out of ten words in Du Perron's Zind Dictionary six or seven were pure Sanskrit".

Sir W. Jones's Works, Vol. 1. pp. 82.

अर्थात् ड्यू पेरन के 'जन्द-कोष' में मुझे दश शब्दों में से छः सात शुद्ध संस्कृत शब्द देख कर कम आश्चर्य नहीं हुआ।

पारसियों की अग्नि-पूजा भारतवर्ष की ही देन है। तुर्की से कीलाक्षर

---

1 हेरोडोटस प्रथम विदेशी है ,जो अपने ग्रन्थ में भारत का हवाला देता है।

2 व 3 Kharoshthi inscriptions discovered by Sir Aurel Stein in Chinese Turkestan Part 1.

4 ईसा की छठी शताब्दी तक काबुल में हिन्दू राज्य था।

लिपि में लिखा हुआ एक शिला लेख मिला है जिसमें उसको विष्णु, इन्द्र, पूपण आदि देवताओं का पूजक और आर्य्य होना लिखा है। यूरोप की सभ्यता के गुरू यूनानियों में भी हमारी सभ्यता फैल चुकी थी। यूनानियों के प्राचीन काव्य इलियड में सूर्य्य आदि देवताओं के मन्दिर का वर्णन मिलता है जो निःसन्देह भारतवर्ष से ही लिया गया है। स्कैन्डिनेविया से भी प्रमाण मिले हैं जिनसे पता लगता है कि वहां तक भी भारतवर्ष का प्रभाव था। भारतीय सभ्यता पूर्व में भी वहुत फैली थी। सुमात्रा, वोर्नियो और जावा में हमारी सभ्यता के वहुत से चिन्ह मिलते हैं। जावा आदि प्रदेशों में भी ऐसे कई शिला लेख मिले हैं। जापान और चीन को तो भारतवर्ष ने धर्म दिया हैं। प्रसिद्ध यात्री फाहियान अपने यात्रा वर्णन में लिखता है कि चीनी-तुर्किस्तान में उसने वहुत से भारतीय रिवाज देखे। वहां का धर्म तो वौद्ध था ही केवल भाषा में अन्तर था जो स्थान भेद के कारण स्वाभाविक ही है।

इस विषय में इतिहासज्ञ एल. फिन्सटन साहव का विचार है कि—

"..........the early influence of the Hindus is almost as decisively proved by the journal of the Chinese pilgrim in the end of the 4th century who found Java entirely peopled by Hindus and who sailed from the Ganges to Ceylon from Ceylon to Java and Java to China in ships manned by crews professing the Brahmanical religion".

अर्थात् "एक चीनी यात्री की डायरी (रोजनामचा) से यह वात सिद्ध होती है, जिसने चौथी सदी के अन्त में जावा को हिन्दुओं (आर्य्यों) से वसा हुआ पाया था। इसने गंगा से सीलोन (लंका) की, सीलोन से जावा की और जावा से चीन की समुद्र-यात्रा की थी। इस समय जहाजों पर जो मलाह थे, वे हिन्दू धर्म को मानते थे।"

इस तरह भारतवर्ष ने भिन्न भिन्न समय पर आर्य धर्म और वौद्धमत का दूर दूर देशों तक प्रचार किया। ऐसी दशा में कुछ रीति रिवाजों के सादृश्य को लेकर यह नहीं कहा जा सकता कि राजपूत वाहर से आने वाली अनार्य जातियों में से हैं। वे वास्तव में आर्य्य ही हैं।

(साप्ताहिक 'क्षत्रिय वीर', 3 नवम्बर, 1947)

——

क्या राजपूत अनार्य हैं ?

कर्नल टाड के साथ साथ विन्सेन्टस्मिथ ने अपनी पुस्तक "अर्ली हिस्टरी आफ् इण्डिया" में राजपूतों के विषय में भ्रममूलक विचार यों प्रकट किये हैं:—

"............In this place I desire to draw attention to the fact, long suspected and now established by good evidence that the foreign immigrants into Rajputana and the upper Gangetic provinces were not utterly destroyed in the course of their wars with the native powers. Many, of course, perished, but many survived, and were merged in the general population, of which no inconsiderable part is now formed by their descendents. The foreigners, like their fore-runners the Sakas and the Yue-chi, universally yielded to the wonderful assimilative power of Hinduism, and rapidly became Hinduized. Clans or families which succeeded in winning chieftainship were admitted readily into the frame of Hindu polity as Kshatriyas or Rajputs, and there is no doubt that the Parihars and many other famous Rajput clans of the north were developed out of the barbarian hordes which poured into India during the fifth and sixth centuries. The rank and file of the strangers became Gujars and other castes, ranking lower than Rajputs in the scale of precedence. Farther to the south, various indigenous or "aborginal" tribes and clans underwent the same process of Hinduiszed social promotion in virtue of which Gonds, Bhars, Kharwas and so forth emerged as Chandels, Rathors Gaharwars and other well known Rajput clans, duly equipped with pedigrees reaching back to the sun and the moon.(Early History of India. 4th Ed. p. 340-341.(1924).

"इस प्रसंग में हम उस बात का उल्लेख करना चाहते हैं जिसकी सत्यता के विषय में बहुत दिनों से लोगों का विश्वास सा रहा है पर अब विश्वसनीय प्रमाणों के आधार पर जिसकी सत्यता सिद्ध हो गई है। वह बात यह है कि जो विदेशी जातियाँ बाहर से आकर राजपूताना तथा गंगा के ऊपरी प्रान्तों में आकर बसी थीं वे एतद्देशीय राजाओं से लड़ते भिड़ते बिल्कुल ही नाश नहीं हो गई थीं। सच तो यह है कि उनमें से बहुत सी नष्ट हो गईं। फिर भी बहुत सी बच गईं थीं और वे यहां के निवासियों से मिल जुल गईं। जिनमें से अधिकाँश लोग उनके वंशधर हैं। ये विदेशी लोग शक तथा यहूचियों की भांति, जो उनके पूर्व भारत में आये थे, प्रायः सब के सब हिन्दू-धर्म की आश्चर्यजनक ग्राहक शक्ति के प्रभाव में पड़ कर शीघ्र ही हिन्दू बन गये। जो घराने तथा कुल, राज्य स्थापित करने में सफल हुए वे हिन्दू राष्ट्र के ढाँचे में क्षत्रिय अथवा राजपूत के नाम से सम्मिलित कर लिये गये। निस्सन्देह परिहार तथा उत्तरीय भारत के अन्य प्रसिद्ध राजपूत घरानों का जन्म उन असभ्य जातियों से हुआ है जो 5वीं और 6ठीं शताब्दियों में भारत में आती रहती थीं। उन विदेशियों में से जो साधारण श्रेणी के थे वे गूजर कहलाये जो राजपूतों की अपेक्षा हीन कुल के माने गये। सुदूर दक्षिण में भिन्न भिन्न जो एतद्देशीय अथवा प्राचीन जातियाँ और घराने रहते थे वे भी उसी प्रकार हिन्दू बन गईं और उनका भी गौरव बढ़ा जिसके कारण गोंड, खरवास आदि, चंदेल, राठौर, गहरवार, तथा अन्य प्रसिद्ध राजपूत वंशों के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन वंशों ने अपने उच्च वंशज होने के प्रमाण में वंशावलियाँ तैयार की जिनके हिसाब से वे सूर्य्य और चन्द्र की सन्तान हैं।"

इसी प्रकार विलियम क्रुक ने भी "टाड राजस्थान" ग्रन्थ के सन् 1920 ई० के नये संस्करण को सम्पादित करते हुए अपनी भूमिका में यह लिखा है:—

"............Recent researches have thrown much light on the origin of Rajputs. A wide gulf lies between the Vedic Kshatriyas and the Rajputs of mediaeval times which it is now impossible to bridge. It is now certain that the origin of many clans dates from that of the White Huns, who destroyed the Gupta Empire about 480 A. D. The Gujar tribe connected with the latter people adopted Hinduism and their leaders formed the main stock from which the higher Rajput families sprang. When these new claimants

to princely honour accepted the faith and the institutions of Brahmanism, the attempt would naturally be made to connect them with heroes of the Mahabhart and the Ramayan". –Tod's Rajisthan (Oxford Ed. 1920)

"हाल में जो खोज हुई है उससे राजपूतों की उत्पत्ति पर बड़ा प्रकाश पड़ा है। वैदिक काल के क्षत्रियों के और भारत के मध्यकालीन क्षत्रियों के बीच की शृङ्खला बहुत ही खण्डित है जिसे जोड़ना असम्भव है। अब यह निश्चित हो गया है कि बहुत से राजपूत वंशों का प्रारम्भ हूणों के समय से होता है जिन्होंने गुप्त साम्राज्य को 480 ई० के आस पास नष्ट कर दिया था। गूजर जाति–जिसका सम्बन्ध गुप्त लोगों से था, जिन्होंने हिन्दू धर्म स्वीकार कर लिया था उनसे राजपूतों के उच्च घरानों की उत्पत्ति हुई। इन नये दावेदारों ने अपने वंश को महाभारत व रामायण कालीन वीरों से मिलाने का प्रयत्न किया जो स्वाभाविक ही था।"

आगे चल कर अपने सिद्धान्त के प्रमाण में क्रुक लिखते हैं:—

"But it was necessary to disguise this admission of foreigners under a convenient fiction. Hence arose the legend how by a solemn act of purification or initiation under the superintendence of the ancient Vedic Rishis, the fire-born septs were created to help the Brahmins in suppressing Buddhism and other heresies. This privilege was confined to four septs known as Agnikulas or fireborn viz., the Paramar, Parihar, Chalukya and Chauhan".

"क्योंकि विदेशी लोग उनमें इस प्रकार मिल गये थे कि उन्हें इस मिश्रण को छिपाने के लिये एक उपयुक्त बात गढ़नी पड़ी। बस, तभी से यह कथा प्रचलित हुई कि प्राचीन वैदिक ऋषियों की संरक्षता में एक यज्ञ हुआ जिसमें अग्नि कुण्ड से उन वर्णों की उत्पति हुई जिनसे ब्राह्मणों को बौद्धों के दबाने में सहायता मिली। यह सौभाग्य केवल चार वंशों को था जो कि अग्नि-कुल कहलाये यथा, परमार, परिहार, चालुक्य (सोलंकी) और चौहान।"

विन्सेण्ट स्मिथ का राजपूत जाति की उत्पत्ति के विषय में विचार है कि:—

"The main points to remember are that the Kshatriya or Rajput group of castes is essentially an occuptional group composed of all clans following the Hindu ritual, who actually undertook the act of Government;that consequently, people of most diverse races were and are lumped together as Rajputs, and that most of the great clans now in existence are descended either from foreign immigrants of the fifth or sixth century of the christian era, or from indigenous races, such as the Gonds and Bhars".

—Early History of India, 4th Ed. pp. 430-31.

"क्षत्रिय या राजपूत जाति अपने युद्ध कर्म से ऐसा कहलाई और उसमें वे समस्त प्रकार के वंश हैं जिन्होंने हिन्दू रस्मों को मान कर राज्य शासन का कार्य हाथ में लिया। इसीलिये राजपूतों में भिन्न भिन्न वंशों के लोग इकट्ठे हो गये। वर्तमान काल के राजपूत वंश या तो पांचवीं, छठीं शताब्दी में आये हुए विदेशी आक्रमणकारियों की सन्तान में से हैं अथवा गोंड़ या भर नामक आदिम निवासी लोगों की सन्तान हैं।"

इसी तरह डाक्टर देवदत्त रामकृष्ण भांडारकर ने भी राजपूतों के शिरोमणि छत्तीस राजकुल शृङ्गार मेवाड़ के महाराणाओं (गहलोत राजवंश) हल को ब्राह्मण वतलाया है और ऐसे ही दूसरे विद्वानों ने उन्हें विदेशी मान लिया है।[1]

---

[1] सम्राट अकवर के मंत्री व इतिहास लेखक अवुल फजल ने द्वेपवश मेवाड़ के गहलोत राजवंश को "ईरान के वादशाह नौशेरवाँ आदिल के वश मे" और "मासिरूल उमरा", "विसातुल गनाइम" तथा "तारीख फिरिश्ता" के लेखकों ने इस वंश को अनार्य क्षत्रिय लिख दिया है। यह सव भ्रमपूर्ण वातें हैं जो आधुनिक खोज व प्राचीन इतिहासों से कल्पित सिद्ध हुई हैं। (देखो, राजस्थान रत्नाकर, भाग 1 तरंग 2 सं० 1970 वि०)

भारतवर्ष के संक्षिप्त इतिहास में वालकृष्ण ने भी राजपूत जाति के विषय में इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं—

"राजपूत लोग पुरातन आर्य्यों, यूनानियों, पर्शिया वालों, शकों, गूजरों, तुरकों आदि जातियाँ की, जिन्होंने हिन्दू धर्म तथा सभ्यता स्वीकार कर ली थी, संतान हैं। जब स्थान स्थान पर राजपूतों ने राज्य स्थापित कर लिये तब उन सबकी उत्पत्ति आर्य्यों से मान ली गयी (पृष्ठ 271)।"

तेलूग भाषा के इतिहास के लेखक पंड़ित चिलूकारी वेराभद्रा राऊ (नियोगी ब्राह्मण) ने अपनी पुस्तक में राजपूत जाति की उत्पति के विषय में इस प्रकार अपना मत प्रकट किया है—

"आँध्र देश की वे जातियाँ जो अपने को राजपूत या क्षत्रिय कहती हैं, शूद्रों की कतिपय जातियों से निकली हैं........ये लोग क्षत्रिय इसीलिये कहलाये कि इन्होंने वीरता पूर्पक अच्छा शासन किया, लेकिन यहां के राजपूतों को दुखी नहीं होना चाहिये क्योंकि उत्तरी भारत में भी जो क्षत्रिय या राजपूत कहलाते हैं........जहां जहां रहते हैं वे भी शूद्रों ही से सब क्षत्रिय कहलाने लगे हैं।........इनके पूर्वज भी शूद्र थे। यदि गुण कर्म स्वभाव से देखा जाय तो हमें एक ऐसी जाति को जो राज्य कर चुकी है उनके वंशजों को क्षत्रिय मानने में आपत्ति नहीं है.......क्योंकि विभिन्न जातियाँ गुण, कर्म स्वभाव ही से बनी ... ...प्राचीन शूद्र ही भारत में अब क्षत्रिय और राजपूत कहलाते हैं।"

पंजाब के इम्पीरियल गज़ेटियर में वड़ी अपमान जनक बातें राजपूतों के विषय में लिख दी गई हैं—

"According to a popular legend the whole race was exterminated for disputing with the Brahmins. Kshatriya Kings were common down to the 7th centuary A. D. although many of them were probably Sudra Kshatriya or like the Turkish Kings of Ohind not Hindus at all. They cannot be pure Aryans".

–Imperial Gazetteer Vo 1. pt. II pp. 308.

अर्थात् "एक प्रसिद्ध दंतकथा है कि ब्राह्मणों से लड़ने के कारण समस्त क्षत्रिय जाति का नाश हो गया था। 7वीं शताब्दी तक साधारणतः क्षत्रिय

ही राजा होते रहे हैं। यद्यपि उनमें अधिकतर सम्भवतः शूद्र क्षत्रिय या ओहिन्द के तुर्क राजाओं के समान अहिन्दू थे वह किसी प्रकार भी शुद्ध आर्य्य वंशज नहीं हो सकते है।"

प्रोफेसर सत्यजीवन वर्म्मा एम० ए० ने आख्यानक-काव्य (नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग 6 अंक 3 में प्रकाशित) में राजपूतों के विषय में यह लिखा है:—

"सम्राट हर्ष वर्धन की मृत्यु के पश्चात् उसका विशाल साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया और उसके ध्वसावशेष पर अगणित क्षुद्र, अल्पकालिक शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ.... राजपूत पीछे से आई वाहरी जाति के थे....... क्रमशः शक्ति सम्पन्न होने पर जव उन्हें शासन का भार उठाना पड़ा, तव जनता पर अपना प्रभाव स्थापित करने के लिये उन्हें अपने वंश की प्राचीनता तथा पूर्व पराक्रम का प्रमाण उपस्थित करना आवश्यक जान पड़ा, जिसके हेतु उन्हें अपने पूर्वजों का सम्वन्ध रामायण और महाभारत के वीर क्षत्रिय योद्धाओं से जोड़ना पड़ा। यदि वे ऐसा न करते, तो हिन्दू जनता, जो क्षत्रियों ही को शासन का अधिकारी समझती थी, एक क्षत्रिय "अज्ञात कुलशील" जाति के आधिपत्य में रहना अपना अपमान समझती। भारतीय हिन्दू जनता में सम्मान पाने के लिये उन्हें अपने वंश का सम्बन्ध प्राचीन क्षत्रिय वीर पुरुषों से दिखाना आवश्यक हो गया था। इस कार्य के लिये भाट और चारण उपयुक्त ठहरे। इन लोगों ने अपने आश्रय दाताओं की प्रशंसा में वंशपरायण तथा उनके वीरोचित पराक्रमों का गीत गाना आरम्भ किया।"

भारतीय इतिहास के प्रारम्भिक लेखक पश्चिमीय विद्वानों ने क्षत्रिय और राजपूत, इन दोनों में अन्तर वतलाने की चेष्टा की है। उनका विचार है कि वौद्धकाल के पहले क्षत्रिय थे। इसके वाद बौद्धकाल में क्षत्रियों का कोई पता नहीं लगता है परन्तु वौद्ध धर्म के भारतवर्ष से उठ जाने के बाद फिर ई० सन् की 8 वीं तथा 9 वीं शताव्दी में एकाएक एक जाति उत्पन्न हो जाती है जो अपने को प्राचीन क्षत्रियों का वंशज वतलाती हुई राजपुत्र या राजपूत कहने लगती है। इससे विदेशो विद्वान अनुमान करते हैं कि क्षत्रिय और राजपूत भिन्न भिन्न थे और राजपूत जाति की उत्पत्ति वाहर से आक्रमण करने वाली शक, हूण आदि जातियों से हुई है।

परन्तु यह विचार अव इतिहासज्ञों के लिये महत्व का नहीं रहा है

क्योंकि बौद्ध धर्म जब से फैला उसके साथ ही हिन्दू धर्म का वर्णाश्रम ढाँचा प्राय: लुप्त सा हो गया। फिर भी हिन्दू धर्म बिल्कुल नष्ट नहीं होने पाया था और हिन्दुओं के चारों वर्ण किसी न किसी रूप में विद्यमान रहे। शंकराचार्य के प्रयत्न से बौद्ध धर्म के नष्ट होने पर वही क्षत्रिय जाति जिसका वर्णन बौद्धकाल में नहीं मिलता है, संसार के सामने प्रकट रूप में आ गयी। ऐसी स्थिति में राजपूत जाति की विदेशियों से उत्पत्ति मानना युक्ति संगत नहीं है।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि सम्राट हर्षवर्धन जिसका समय विक्रमी संवत् 663 से 704 तक माना जाता है उसके पूर्व भी क्षत्रियों के प्रबल राज्य विद्यमान थे। यह इतिहास प्रसिद्ध है कि हर्षवर्द्धन ने आर्यावर्त्त के कई राजाओं को परास्त किया था। जब वह दक्षिण में धावा करने को गया तब उसका सामाना नर्मदा के किनारे वातापी के सोलंकी राजा पुलकेशी द्वितीय ने किया और वहाँ से हार कर उसे लौट आना पड़ा। इस पुलकेशी से छठी पीढ़ी पूर्व जयसिंह नामक सोलंकी नरेश हुआ था जिसने राठौरों के राज्य को छीन लिया। इस प्रकार आधुनिक खोज से यह निश्चित हो गया है कि राठौरों व सोलंकियों के बड़े प्रबल राज्य हर्षवर्द्धन से भी पूर्व, दक्षिण में थे। इसलिये राजपूतों का बाहर से आना मानना असंगत मालूम होता है।

सारांश यह है कि देशी व विदेशी विद्वानों का इसी प्रकार राजपूत जाति के विषय में भ्रमपूर्ण मतभेद फैला हुआ है जिसका कारण प्राय: अन्धपरम्परा और ऐतिहासिक सच्ची घटनाओं पर निष्पक्ष विचार का अभाव ही है। वास्तव में भारतवर्ष का इतिहास टटोला जाय तो मध्यकालीन हिन्दुओं का युग बड़ा उथल पुथल भरा मिलेगा। यह युग सन् 600 से 1200 तक गिना जाता है। सन् 600 से 800 तक प्राय: विदेशी जातियाँ जैसे शक, कुशन, यवन, हूण के शासनकाल समाप्त हो चुके थे और सन् 800 से कई नये राज घरानों की स्थापना हुई जिस वंश के शासक आज तक चले आते हैं। जिन राजपूतों का नाम भारत के इतिहास में पहले नहीं मिलता है और जिन राजघरानों को चीनी यात्री हुएनसांग ने भी सातवीं शताब्दी में राजपूत नहीं वरन क्षत्रिय लिखा है उनके आविर्भाव पर अब विचार करते हैं।

भारतवर्ष के इतिहास का सम्बन्ध उसके जन धर्म से गहरा रहा है। आठवीं शताब्दी के आरम्भ से हिन्दू धर्म के जागरण की लहर उठी जिससे बौद्धधर्म का ह्रास और हिन्दूधर्म की पुन: स्थापना की जाने लगी। परन्तु इसी समय में पश्चिम से मुसलमानी मत का झंडा सिन्ध में प्रवेश कर

चुका था। जिससे हिन्दू जाति की जीवित शक्ति अर्थात् उस काल के क्षत्रियों में एक प्रकार का क्षोभ उत्पन्न हुआ और उन्होंने अरब के मुसलमानी आक्रमणकारियों का मुकाबला किया। ऐसी दशा में विचारणीय विषय यह है कि भारत के संकट के समय में भारत की क्षत्रिय जाति में से आगे आने वाले और देश को विदेशी आक्रमण से बचाने वाले क्या वैदिक काल के आर्य्य क्षत्रिय हो सकते थे या विदेशी लोग ? यह कहा जाता है कि धर्म में नये प्रविष्ट लोग अधिक कट्टर होते हैं परन्तु यह निश्चित नियम नहीं है। इसलिये हमें यही मानना पड़ता है कि उक्त समय में वीरतापूर्वक लड़ने वाले राजपूत लोग वैदिक क्षत्रियों की ही सन्तान थे न कि विदेशी लोगों की। इसके सिवाय राजपूतों को विदेशियों की सन्तान मानने वालों का सिद्धान्त इस दलील के आगे भी नहीं ठहरता कि भारत की क्षत्रिय जाति की परम्परा सूर्य व चन्द्र वंश से गिनी जाती है, जिन दोनों वंशों के लोग पूर्वकाल में पंजाब व दोआब में प्रविष्ठ हुए थे। तीसरी दलील इनकी शारीरिक बनावट है जो पुकार पुकार कर कह रही है कि वे वैदिक काल के क्षत्रियों की सन्तान हैं न कि शक, हूण, तुर्क आदि विदेशियों की जैसा कि कई विद्वानों ने भ्रम वश मान लिया है।

यह मानी हुई बात है कि राजपूत लोग सुडौल, कदावर और मजबूत होते हैं। इनके चरित, चरित्र और मर्यादा, व्यवहार-परम्परा से आर्य्य सभ्यता की सूचक हैं।[1] इनकी सीधी नाक, विशाल मस्तक और लम्बे कद को देखते हुये योरोपियन विद्वान् जैसे नेसफील्ड और इबटसन साहिब की पूर्ण धारणा है कि "राजपूत लोग आर्य्य हैं और वे उन क्षत्रियों की सन्तान हैं जो वैदिककाल से भारतवर्ष में शासन कर रहे हैं।"

इसी जाति ने समय समय पर देश, धर्म और आर्य्य सभ्यता की रक्षा की है तथा अपनी मर्यादा व आन-बान के लिये सदा हथेली पर जान रखी है। इतिहास बतलाता है कि इस पराक्रमी क्षत्रिय जाति ने बाल-बच्चों सहित शत्रु के साथ लड़कर अमर यश प्राप्त किया है। अलाउद्दीन खिल्जी के हमले और चित्तौर के शाके आज भी बच्चों की ज़बान पर हैं। इस जाति के प्रत्येक वंश ने न जानें कितने वीरोचित काम किये हैं जिनका वर्णन सुन

---

[1] देखो, मेरा लिखा "राजस्थान के छत्तीस राजवंश" द्वितीय संस्करण वि० सं० 1982 ।

कर देशी ही नहीं, किन्तु विदेशी विद्वान भी मुग्ध हैं। राजपूतों के वीरोचित भाव को देखकर किसी कवि ने कहा है—

हूँ वलिहारी रानियां, जाया वंश छत्तीस।
सेर सलूनों चून ले शीश करे बखशीश॥

भाव यह है कि वे राजपूत क्षत्राणियाँ धन्य हैं जिनकी कोख से ये 36 राजकुल उत्पन्न हुए हैं, जो वीर सुपुत्र आत्म समर्पण करने को सदा तैयार हैं और निस्वार्थ ही अपना सिर हथेली पर लिये रहते हैं।

राजपूतों की ख्याति का वखान करते हुवे इतिहासवेत्ता कर्नल टॉड नहीं अघाते हैं। वह राजस्थान के पृ० 63 में लिखते हैं—

"There is not a petty State in Rajasthan that has not had its Thermopylae and scarcely a city that has not produced its Leonidas".

"अर्थात् "राजस्थान (राजपूताना) में कोई छोटा से छोटा राज्य भी ऐसा नहीं है जिसमें थर्मापोली (ग्रीस स्थित) जैसी रणभूमि न हो और शायद ही कोई ऐसा नगर मिले जहां लियोनिडास सा वीर पुरुष उत्पन्न न हुआ हो।"

टाड अपने राजस्थान के इतिहास की भूमिका में लिखते हैं—

"The struggle of a brave people for independence during a series of ages sacrificing whatever was dear to them for the maintenance of the religion of their forefathers and sturdily defending to death, inspite of every temptation, their rights and national liberty form a picture, which it is difficult to contemplate without emotion".

अर्थात् "एक वीर जाति का लगातार कई पीढ़ियों तक स्वाधीनता के लिये युद्ध आदि करते रहना, अपने वाप दादों के धर्म की रक्षा के लिये अपनी प्रिय वस्तु की भी हानि सहना और स्वस्व देकर भी शौर्य पूर्वक अपने स्वत्वों और जातीय स्वतन्त्रता को किसी भी प्रकार के लोभ, लालच में न आकर वचाना, यह सब मिल कर एक ऐसा चित्र वनाते हैं कि जिसका ध्यान करने से हमारा शरीर रोमांचित हो जाता है।"

आगे चलकर टॉड राजपूत जाति का चरित्र चित्रण इस प्रकार करते हैं—

"High courage, patriotism, loyalty, honour, hospitality and simplicity are qualities which must once be connected to them".

अर्थात् "महान् शूरता, देश भक्ति, स्वामिभक्ति, प्रतिष्ठा, अतिथि सत्कार और सरलता यह गुण सर्वांश में राजपूतों में पाये जाते हैं।"[1]

मुगल सम्राट् अकबर का मंत्री अबुलफ़जल[2] राजपूतों की वीरता की प्रशंसा इन शब्दों में करता है—

"विपत्तिकाल में राजपूतों का असली चरित्र जाज्वल्यमान होता है। राजपूत-सैनिक रणक्षेत्र से भागना जानते ही नहीं हैं बल्कि जब लड़ाई का रुख सन्देहजनक हो जाता है तो वे लोग अपने घोड़ों से उतर जाते हैं और वीरता के साथ अपने प्राण न्योछावर कर देते हैं।"

बरनियर अपनी भारत यात्रा की पुस्तक में लिखता है कि राजपूत लोग जब युद्ध क्षेत्र में जाते हैं, तब आपस में इस प्रकार गले मिलते हैं जैसे कि उन्होंने मरने का पूरा निश्चय कर लिया हो। ऐसी वीरता के उदाहरण संसार की अन्य जातियों में कहां पाये जाते हैं ? किस देश और किस जाति में इस प्रकार की सभ्यता और साहस है और किसने अपने पूर्वजों के रिवाज़ों को इतनी शताब्दियों तक अनेक संकट सहते हुए भी कायम रखा है ?

मिस्टर टेलबोय ह्वीलर ने अपने "भारत के इतिहास" में राजपूत जाति के विषय में यह लिखा है—

"The Rajput race is the noblest and proudest in India. With the exception of the Jews, there is perhaps no people of higher antiquity or purer descent. They form a military aristocracy of a feudal type. They are brave and chivalrous, keenly sensitive to an affront, and especially jealous of their women". —Talboy Wheeler, 'History of India'.

---

1 मेरा लिखा, 'मारवाड़ राज्य का इतिहास', द्वितीय आवृत्ति पृ० 388 (वि० सं० 1982)।

2 यह जोधपुर राज्य के नागोर शहर में एक शेख कुल में जन्मा था।

"राजपूत जाति भारतवर्ष में सबसे कुलीन और स्वाभिमानी है। यहूदी जाति को छोड़कर संसार में शायद ही अन्य जाति हो जिसकी उत्पत्ति इतनी पुरानी और शुद्ध हो। ये क्षत्रिय जाति के उच्च वंशज और जागीरद र हैं। ये वीर और दीन अनाथों के रक्षक होते हैं और अपमान को कभी सहन नहीं करते हैं और अपनी स्त्रियों के सम्मान का पूर्ण ध्यान रखने वाले होते हैं।"

कर्नल वाल्टर (भूतपूर्व एजेन्ट गवर्नर जनरल, राजपूताना) बहुत समय तक राजपूताने में रहे थे। वह भी लिखते हैं कि—

"राजपूतों को अपने महत्त्वशाली पूर्वजों के इतिहास का गर्व हो सकता है क्योंकि संसार के किसी देश के इतिहास में ऐसी वीरता और अभिमान के योग्यचरित्र नहीं मिलते जैसे इन वीरों के कार्यों में पाये जाते हैं जो कि उन्होंने अपने देश, प्रतिष्ठा और धार्मिक स्वतन्त्रता के लिये किये।"

डाक्टर शिफार्ड जो कई वर्षों तक राजपूतों के संसर्ग में रहे हैं, ने लिखा है कि "ऐसे इतिहासों के पढ़ने से जिनमें राजपूतों के उत्तम स्वाभाविक गुण और चरित्र यथावत रूप से दर्शाये गये हैं, सम्भव नहीं है कि इतिहास के प्रेमी नवयुवकों पर उत्तम और उत्तेजक प्रभाव उत्पन्न न हों।"

यद्यपि इस वीर राजपूत जाति ने पूर्व काल में उपरोक्त प्रकार से ख्याति प्राप्त की थी परन्तु अब वह केवल इतिहास के पन्नों में रह गई है और दिन प्रतिदिन यह लोग अपने पूर्व गौरव को भूलते जाते हैं, क्यों न भूले जब कि पश्चिमी सभ्यता और शिक्षा का प्रभाव चारों तरफ पड़ रहा है और इसी लिये किसी चारण कवि को यह कहना पड़ा कि—

वे तो संचा गल गया, लद गया लवार।
सो रजपूतणियाँ मर गई, जो जणती जोधार॥

लार्ड मैकाले का यह कथन भी उल्लेख करने योग्य है कि—

"A people, which takes no pride in the noble achievements of remote ancestors will never achieve anything worthy to be remembered with pride by remote descendants".

—Lord Macaulay.

अर्थात् जो जाति अपने पूर्वजों के श्रेष्ठ कार्यों का अभिमान नहीं करती वह कोई ऐसी वात ग्रहण न करेगी जो कि वहुत पीढ़ी पीछे उनकी सन्तान से सगर्व स्मरण करने योग्य हो।

यदि अव भी राजपूत जाति अपने पूर्व गौरव व इतिहास की ओर ध्यान देवें तो यह जाति संसार में अद्वितीय चमत्कार दिखला सकती है। क्या ये शब्द वहरे कानों में पड़ेगें ?

4

गहलोत राजवंश

क्षत्रियों के 36 राजकुलों में गहलोत वंश सव से अधिक महत्वशाली है। यह मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्रजी के जेष्ठ पुत्र कुश के वंश में माना जाता है। श्री भद्भागवत महापुराण में अतिथि से सुमित्र तक 124 राजाओं का कुश के वंश में होना लिखा है।

इसके आगे के नृपतियों का पुराणों में कुछ भी पता नहीं चलता है। वाद के शिलालेख व दान पत्र इस वंश का इतिहास वताने में सहायक होते हैं। इस वंश का सवसे पहला शिलालेख जो मिला है, उससे यह अनुमान किया जाता हैं कि वि० सं० 625 (ई० स० 568) के आस पास मेवाड़ में

गुहिल (गुहदत्त) नाम का एक प्रतापी सूर्यवंशी राजा हुआ जिसके नाम से उसका वंश "गुहिल वंश" कहलाया। संस्कृत शिला लेखों और पुस्तकों में इस वंश के नाम "गुहिलपुत्र", "गुहिलोत" या "गोहिल्य" मिलते है। भाषा में "ग्रहिल" "गोहिल", "गहलोत" और "गेलोत" प्रसिद्ध है। "गुहिलोत" और "गुहिल" एक ही शब्द है। कई लोगों का विचार है कि गोहिल खाँप चंद्रवंशी हैं और वह गहलोत नामक खाँप से पृथक है। परन्तु यह विचार भ्रमपूर्ण है। इसका प्रमाण महाराणा प्रताप के समकालीन चारण कवि दुरसा आढा के निम्न दोहे से प्रकट है—

गोहिल कुल धन गाढ़, लेवण अकबर लालची।
कोडी है नह काढ प्रणधर राणप्रताप सी।।

मेवाड़ (राजपूताना) में आने के पूर्व इस वंश के राजाओं का निवास स्थान कहाँ था, इस पर अब तक कुछ भी निश्चय नहीं है? टाड क मत है कि यह बल्लभीपुर (काठियावाड़) से आये है। वि० सं० 1922 (ई० स० 1865) में राजा गुहिल के दो हजार चाँदी के सिक्के आगरे में मिले थे। इससे तथा जयपुर राज्य के गांव चाटसु और अजमेर जिले के नासूण गॉव से मिले हुए शिला लेखों से यह अनुमान होता है कि शायद गुहिल के पूर्वजों का राज्य पहले आगरे के आसपास रहा हो और वहीं से बाद में वे दक्षिण-पश्चिमी मेवाड़ में पहुँच गये होंगे या मेवाड़ से अपना राज्य वहाँ तक फैलाया होगा।

देश के गौरव, मेवाड़ के महाराणा इसी गहलोत कुल के हैं। मेवाड़ (उदयपुर) का यह राजवंश लगभग वि० सं० 625 से लेकर आज तक, समय के अनेक हेरफेर सहता हुआ उसी प्रदेश पर राज्य करता आ रहा है। इस प्रकार 1350 से अधिक वर्षो तक एक ही प्रदेश पर राज्य करने वाला संसार भर में शायद ही ऐसा कोई दूसरा राजवंश होगा।[1] यद्यपि मनगढ़न्त दंत कथाओं के आधार पर कई राजवंश अपने को इससे भी अधिक समय से राज्य करते आने का दावा करते है, परन्तु वे इसके प्रमाण में शिला लेख, ताम्रपत्र आदि नहीं बतला सके हैं। इससे मेवाड़ को ही सबसे प्राचीन राजवंश समझना पड़ता है। 16 वीं शताब्दी के प्रसिद्ध मुसलमान इतिहास लेखक फरिश्ता ने भी लिखा है कि "मेवाड़ के राणा बहुत प्राचीन काल से राज्य करने आ रहे है और इनका राज्य मुसलमान धर्म की उत्पत्ति होने के पहले भी मौजूद था।"

---

1. "The Maharana of Udaipur is the representative of the most ancient ruling race in the world whether in the East or the west". —Capt. Webb.

यही नहीं, यदि इतिहास की ओर दृष्टि कर प्रश्न किया जाय कि पृथ्वी में ऐसा कौनसा राजवंश है जिसने बहुत देर तक अत्याचार और दुःख सहकर भी अपनी सभ्यता और अपने जातीय गौरव को कायम रखा है, तो निस्सन्देह यही उत्तर मिलेगा कि मेवाड़ का गहलोत वंश ही वह राजवंश है। युद्ध के बाद युद्ध होने पर भी गहलोत वंश ने साहस कभी नहीं छोड़ा। एक के बाद दूसरा विजेता आया फिर भी मेवाड़ ने कभी नीचा नहीं देखा। मनुष्य जाति के इतिहास में केवल गहलोतों ने ही शत्रुओं के आधीन हो जाने पर भी अपने जातीय गौरव को नहीं छोड़ा। अंग्रेजों ने अपने पवित्र देवताओं और अपनी मर्यादाओं को रोम के आधीन होकर तिलाञ्जली दे दी थी परन्तु मेवाड़ के गहलोतों ने कभी भी इस तरह अपने आप को नहीं बदला। अनेक बार इन्होंने धन और सम्पति पर तो पदाघात करना स्वीकार किया परन्तु अपने पवित्र धर्म और आचार व्यवहार का परित्याग नहीं किया। कई बार इनके राज्य पर आघात हुआ और उसका बहुत सा भाग शत्रुओं के हाथ में चला भी गया। कई बार पवित्र युद्ध भूमि में अनेक वीर सदा के लिये इस संसार से कूच कर गये, तथापि गहलोत वीरों ने नात्र धर्म को कभी नही छोड़ा। इन देश भक्तों ने देर तक दुश्मनों के वारों को सहते हुये भी आत्म सम्मान की रक्षा की। गहलोतों ने अपनी स्वतन्त्रता के लिये लड़ने से कभी मुँह नहीं मोड़ा; उनकी स्त्रियों ने भी अपनी आजादी को खो देने की अपेक्षा रणक्षेत्र में प्राण दे देना श्रेयस्कर समझा। यहां तक कि बालकों ने भी परायी जंजीरों से जकड़े जाने की अपेक्षा मौत की गोद में शयन करना सहस्र गुणित अच्छा समझा। इस प्रकार गहलोत वीरों ने मुसलमान बादशाहों के सामने सिर नहीं झुकाया। इसी कारण सब भारतवासी इस वंश की इज्जत करते हैं तथा उदयपुर के महाराणाओं को "हिन्दूआ सूर्य", "आर्य कुलकमल दिवाकर" और "छत्तीस कुल शृंगार" आदि उपाधियों से विभूषित करते हैं।

उदयपुर (मेवाड़) राज्य, जो आजकल केवल 12,700 वर्गमील भूमि में है, पहले कई गुणा बढ़ा हुआ था। इतने प्रतापी और गौरवशाली राज्य के लिये यह कोई बड़ी बात नहीं थी कि अपने राज्य की सीमा को भारत की डाँवाडोल अवस्था और मुगल के पतनकाल का सुभीता देखकर बहुत कुछ बढ़ा लेता। परन्तु कौटुम्बिक कलह और क्षुद्र मानापमान की भावना, जो कई पीढ़ियों तक चली, उसने ऐसा नहीं होने दिया और मुगल शासन के समय मेवाड़ के नरेशों ने अपनी आन-शान में बादशाहों के सामने सिर नहीं झुकाया और न स्वयं उनके दरबार में जाकर चापलूसी की, जैसी कि अन्य नरेशों ने की और वक्त से लाभ उठाया।

यही कारण है कि अंग्रेज सरकार की अहदनामों की पुस्तक "एटचीसन ट्रीटीज" में लिखा है कि उदयपुर का गहलोत राजवंश पद प्रतिष्ठा में भारतवर्ष के राजपूत राजाओं में सबसे बढ़ कर है।

मेवाड़ के गहलोत वंशी शासक विक्रम की 11वीं शताब्दी तक अर्थात् गुहिल (गुहदत्त) (1) से रणसिंह (33) तक "राजा" की उपाधि धारण करते रहे हैं। रणसिंह के खेमसिंह, राहप और माहप नामक तीन पुत्र थे। राजकुमार राहप को सीसोदे गांव की जागीर मिली और वे "राणा" उपाधि से प्रसिद्ध हुये। ज्येष्ठ पुत्र क्षेमसिंह मेवाड़ की गद्दी पर बैठा। सं० 1236 के लगभग मेवाड़ का राज्य क्षेमसिंह के ज्येष्ठ पुत्र सामन्तसिंह के हाथ से निकल गया तब उसने डूँगरपुर राज्य की स्थापना की परन्तु कुछ दिनों के पश्चात क्षेमसिंह के दूसरे पुत्र कुमारसिंह ने अपने पूर्वजों के मेवाड़ राज्य पर पुन: अधिकार कर लिया। क्षेमसिंह से रत्नसिंह (42) तक ये नरेश "रावल" कहलाये। रावल रत्नसिंह से सं० 1360 में बादशाह अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड़ छीन लिया और रत्नसिंह के काम आने पर रावल शाखा की समाप्ति हुई। अत: सीसोदे की शाखा के राणा हम्मीर ने सं० वि० 1382 के आस पास बादशाही हाकिम को राजा मालदेव सोनगरा की लड़की ब्याह कर युक्ति द्वारा पुन: चित्तौड़ पर अपना कब्जा किया। तब से यहां के नरेशों की उपाधि "राणा" हुई और गांव सीसोदा के निवासी होने से "सीसोदिया" कहलाने लगे।

गहलोत कुल 24 शाखाओं में विभाजित है-अहाड़िया, मांगलिया, सीसोदिया, पीपाड़ा, कैलाम, गहोल, धोरणिया, गोधा, मगरोपा, भीमला, कैकोटक, कोटेचा, सोरा, ऊहड़, उसेवा, निरुंप, नादोड्या, नाधोता, औजवरा, कुटचरा, दसोद, भटेवरा, पाहा, पूरोत। मूहता नैणसी की ख्यात व बांकीदास की ख्यात में इनसे कुछ भिन्न शाखायें बतलाई गई हैं पर इन 24 शाखाओं के नाम ही प्रचलित हैं।

उदयपुर राज्य का पुराना राजकीय झंडा लाल रंग का था और उस पर महावीर हनुमानजी का चित्र अंकित था परन्तु जो राजचिन्ह सन् 1887 ई० के दिल्ली दरबार में अंग्रेज सरकार से राज्य को भेंट रूप मिला है उसके बीच में सूर्य की मूर्ति है। सूर्य के दोनों तरफ जिरह बख्तर पहिने झैलम टोप लगाये और शस्त्र बांधे हुए एक राजपूत खड़ा है और बाई तरफ लंगोटी लगाये और सिर पर साफा बांधे हुए, तीर कमान पकड़े एक भील है। इससे यह तात्पर्य है कि भील और राजपूत ही राज्य की सेना के दो मुख्य अंग हैं।

इसके नीचे एक पंक्ति में राज्य के शासन का मोटो यानी आदर्श इन अक्षरों में अंकित है:—

"जो दृढ़ राखे धर्म को तिहि राखे करतार"

अर्थात् संसार का कर्त्ता परमात्मा उसकी रक्षा करता है जो अपने धर्म (कर्तव्य) पर दृढ़ रहता है।

इस समय निम्नलिखित नृपतिगण गहलोत राजवंश से निकले कहे जाते हैं। राजपूताने में-उदयपुर, मेवाड़, डूँगरपुर, बाँसवाड़ा[1], प्रतापगढ़, और शाहपुरा[2]। गुजरात में-भावनगर, धर्मपुर, राजपीपला, पालीताना और लाठी। पंजाव में-तीरोंच। मालवा में-वड़वानी, ग्वालियर और इन्दौर[3]। मद्रास प्रान्त में-सन्दुर राज्य और विजिगापट्टम जिले की ८ हजार वर्गमील और ६० लाख रुपये सालाना आमदनी की वड़ी जमीदारी विजयनगर[4]। हिमालय में-नैपाल[5]। दक्षिण में-कोल्हापुर,[6] मुधोल, साँवतवाड़ी और अकलकोट। विदेश में-जापान[7] का राजवंश।

---

1 यहां की राजकुमारी का विवाह मई सन् 1928 ई० में बुन्देला गहड़वाल चरखारी नरेश से हुआ है।

2 उड़ीसा के मोरभंज के नरेश यहीं व्याहे हैं।

3 ग्वालियर की तरह इन्दौर राज्य ने भी हाल के छपे अपने इतिहास में अपने को चित्तौड़ के गहलोत वंश से निकला माना है।

4 यहां की राजकुमारी का विवाह तो जोधपुर-नरेश स्वर्गीय जसवन्तसिंहजी के छोटे भाई कमान्डर इन चीफ महाराजा किशोरसिंहजी के पाटवी पुत्र अर्जुनसिंहजी के साथ मार्च सन् 1896 ई० में हुआ था। एक अन्य का सन् 1920 ई० में जयपुर राज्य के चौमू ठिकाने के पाटवी कुमार से हुआ है।

5 Another son, either on this occasion or on the subsequent fall of Cheetore, fled to the mountains of Nepal and there spread the Guhilot line.
---Tod's Rajasthan vol. I., PP. 257. London, 1829 A. D.

6 Sujunsi was the ancestor of Shivaji the founder of the Satara throne, whose lineage is given in the chronicles of Mewar. —Tod's Rajasthan. vol. I, PP. 269.

मेवाड़ के सरकारी वृहद इतिहास "वीर विनोद" के खण्ड 2 पृ० 1582 पर महाराष्ट्र केशरी छत्रपति शिवाजी को अजयसिंह सीसादिया के कुंवर सज्जनसिंह के वंश में होना लिखा है।

7 टिप्पणी अगले पृष्ठ पर देखें।

5

प्रतिहार राजवंश

कर्नल टॉड[1] तथा चन्दबरदाई[2] ने प्रतिहारों को अग्निवंशी माना है, जिनका पूर्वज परमार, सोलंकी (चालुक्य), चौहान (चहमान) की भांति अग्नि से उत्पन्न हुआ था। इन चारों वंशों के पूर्वजों का अग्नि से उत्पन्न होना चन्दबरदाई की केवल कवि कल्पना थी जिसे कर्नल टॉड ने सत्य मान ली। ग्वालियर के भोजदेव[3] तथा जोधपुर के बाउक[4] के शिलालेखों में प्रतिहार

पिछले पृष्ठ की टिप्पणी—

7 बड़ौदा राज्य के सुप्रसिद्ध विद्वान व एज्युकेशन कमिश्नर मिस्टर दीक्षित ने हाल ही में राजपूत राजाओं के राज्य विस्तार की चर्चा करते हुए बड़ौदा नरेश के सम्मुख अपने भाषण में बतलाया कि "इस समय जापान की गद्दी पर जो राज करते हैं, वह गहलोत राजपूत हैं जो चित्तौड़ से किसी समय गये थे। जापानी-भाषा, संस्कृत का बिगाड़ है और उसमें महाराजा को मुख्य-देव पहले कहते थे, फिर उसका अपभ्रंश मुकेडे हुआ जो अब मकेडो है पर अर्थ में भेद नहीं है। उनके झंडे पर अब तक सूर्य्य का चिन्ह है और वे सूर्य्य-वंशी क्षत्रिय हैं।"

1 एनल्स एण्ड एण्टीक्विटीज ऑफ राजस्थान, प्रथम भाग पृ० 120।

2 पृथ्वीराज रासो, आदि पर्व पृ० 45-51।

3 एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द 18 पृ० 99।

4 उपरोक्त, पृ० 87।

सूर्यवंशी रामचन्द्र के छोटे भाई लक्ष्मण के वंशज बतलाये गये हैं । रामचन्द्र के अयोध्या से बनवास जाने पर, लक्ष्मण बनवास काल में प्रतिहार (द्वारपाल) के रूप में रहे थे, अस्तु उनके वंशज प्रतिहार कहलाये ।[1] यह कल्पना भी इस राजवंश को भारत प्रसिद्ध राम व लक्ष्मण से अपना सम्बन्ध जोड़ने के लिये की गई प्रतीत होती है ।[2] वास्तव में गुप्तकाल में "प्रतिहार" व "महाप्रतिहार" विशेष अधिकारी होते थे जो राजा के विश्वासपात्र अंगरक्षक होते थे । अतः प्रतिहार शब्द एक पद सूचक नाम था । ऐसे ही पदधारी व्यक्ति के वंशज प्रतिहार कहलाये । पदसूचक नामों से कई वंशों व गोत्रों का चलना एक साधारण बात है । प्रतिहार का ही अपभ्रंश पड़ीहार या परिहार है । प्रतिहार न केवल क्षत्रियों बल्कि ब्राह्मणों, गुजरों आदि में भी पाये जाते हैं ।

पृथ्वीराज रासो तथा वंश भास्कर नें प्रतिहारों को अग्निवंशी बतलाया है लेकिन फिर भी रासोकार ने क्षत्रियों को तीन भागों में विभक्त किया है—रघुवंशी (सूर्यवंशी), चन्द्रवंशी तथा यादव वंशी । अग्निकुल से उत्पन्न होने वालों को भी सूर्य्यवंश में होना बतलाया है ।[3] वंशभास्कर में भी लिखा है कि कुछ लोग अग्निवंशी क्षत्रियों को सूर्य्यवंशी भी मानते हैं । दोनों एक ही वंश है ।[4] प्राचीन शिलालेखों में भी प्रतिहारों को स्पष्ट रूप से सूर्य्यवंशी लिखा गया है ।[5]

---

[1] ग्वालियर अभिलेख के अनुसार लक्ष्मण का प्रतिहार नाम इस कारण पड़ा कि उसने मेघनाथ आदि के विरुद्ध शक्ति प्रदर्शन 'प्रतिहरणविधे' किया था ।

[2] रहुतिलओ पडिहारो आसी सिरिलक्खणोत्तिरामस्स ।
तेण पडिहारवन्सो समुणई एत्थ सम्पत्तो ।।
(कक्कुक का घटियाला शिलालेख)
स्वभ्रात्रा रामभद्रस्य प्रतिहार्यं कृतं यतः ।
श्री प्रतिहारवङ्शोयमतश्चोन्नतिमाप्नुयात् ।।
(बाउक का जोधपुर शिलालेख)

[3] पृथ्वीराज रासो, आदिपर्व पृ० 54 ।

[4] वंशभास्कर, प्रथम भाग पृ० 87 ।

[5] उपर्युक्त बाउक का शिलालेख । ग्वालियर-प्रशस्ति में भी प्रतिहार वत्सराज को "इक्ष्वाकु वंशियों में अग्रणी" बतलाया गया है । राजशेखर ने भोजदेव के पुत्र महेन्द्रपाल को 'रघुकुलतिलक' लिखा है (विद्धशाल भञ्जिका, सर्ग 1 श्लोक 6) ।

प्रतिहार राजवंशी क्षत्रिय हैं या गुर्जर, यह भी विवादास्पद है। बाउक के वि० सं० 894 (ई० सन् 837) के लेख में स्पष्ट लिखा है[1] कि प्रतिहार हरिचन्द्र की क्षत्रिय रानी भाद्रा से चार पुत्र उत्पन्न हुए। हरिचन्द्र की एक और रानी ब्राह्मण थी। इससे उत्पन्न पुत्र ब्राह्मण प्रतिहार कहलाये। क्षत्रिय रानी भाद्रा से उत्पन्न पुत्रों ने ही अपने अलग अलग राज्य स्थापित किये थे। हरिचन्द्र, जो सम्भवतः गुप्त सम्राटों का ही महाप्रतिहार था, ने गुप्त साम्राज्य के पतनकाल में वर्तमान जोधपुर राज्य के आसपास के क्षेत्र में अपना स्वतंत्र राज्य छठीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्थापित किया। उस वक्त यह क्षेत्र गुर्जरात्रा कहलाता था। यह राज्य वर्तमान डीडवाना (जोधपुर राज्य) से राजोर (अलवर राज्य) तक फैला हुआ था।[2] वर्तमान जयपुर राज्य का काफी हिस्सा, जालोर, भीनमाल आदि भी इसी क्षेत्र में आते थे। इस गुर्जरात्रा का वर्तमान गुजरात प्रांत से कोई सम्बन्ध नहीं था। वर्तमान गुजरात प्रांत इसके काफी समय बाद इस नाम से कहलाया जाने लगा। गुर्जरात्रा के ही मूल निवासी होने के कारण यहां के प्रतिहार गुर्जर प्रतिहार कहलाये। इनका गुजर जाति से कोई सम्बन्ध नहीं था।

प्रतिहार हरिचन्द्र की क्षत्रिय रानी से चार पुत्र उत्पन्न हुए—भोगभट्ट, कक्क, रज्जिल तथा द्दद। इन पुत्रों ने माण्डव्यपुर (वर्तमान मण्डोर) पर कब्जा कर उसे गुर्जरात्रा की राजधानी बनाया।[3] हरिचन्द्र के बाद उसका पुत्र रज्जिल राजगद्दी पर बैठा। रज्जिल का उत्तराधिकारी नरभट्ट (ई० सन् 600 के लगभग) राजगद्दी पर बैठा। वह अपनी वीरता के कारण 'पेलापेल्ली' कहलाया।[4] इसका पुत्र नागभट्ट (नाहड़) हुआ जिसने मेड़ान्तक[5] (वर्तमान मेड़ता) को अपनी राजधानी कुछ कारणों से बनाया। नागभट्ट के ज्येष्ठ पुत्र तात के जीवन को क्षणभंगुर समझकर सन्यास ले लिया तथा माण्डव्यपुर के आश्रम में रहने लगा।[6] अतः उसका कनिष्ठ भाई भोज शासन करने लगा। बाद में तात का पुत्र यशोवर्धन (ई० सन् 675 के लगभग) राजगद्दी पर बैठा। इसके राज्यकाल में सैलवंश के पृथुवर्धन ने गुर्जरात्रा पर आक्रमण किया[7] लेकिन वह विफल होकर लौटा।

---

1 एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द 18 पृ०87-99।
2 उपरोक्त, जिल्द 5 पृ० 208-213।
3 एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द 18 पृ० 95।
4 जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी (1895), पृ० 516-518।
5 एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द 18 भाग 12।
6 उपरोक्त, भाग 15 पृ० 96।
7 उपरोक्त, भाग 9 पृ० 41-42।

यशोवर्धन के वाद उसका पुत्र चण्डक तथा उसके वाद उसका पुत्र शिलुक राजगद्दी पर वैठा। शिलुक ने उत्तर पश्चिमी क्षेत्र के भाटी नरेश देवराज को हराकर उसका राजछत्र छीना था। इसके राज्यकाल में अरव जुनियाद ने मरू माड (वर्तमान जोधपुर व वीकानेर राज्य) पर आक्रमण किया था तथा इसे काफी हानि पहुँचाई लेकिन शिलुक ने शीघ्र ही वापस शांति व सुव्यवस्था स्थापित कर दी। यो शिलुक "वल्लमण्डल पालक" कहलाता था जिससे ज्ञात होता है कि वह हरिचन्द्र के चारों पुत्रों के राज्य का मुखिया था। उसकी मृत्यु के वाद झोट तथा उसके वाद उसका पुत्र भिल्लादित्य राजगद्दी पर वैठा। भिल्लादित्य के वाद कक्क राजगद्दी पर वैठा। ये सब नाम के राजा थे। इस वक्त तक कान्यकुब्ज (कन्नौज) का प्रतिहार नरेश काफी शक्तिशाली हो गया था। अतः सम्भवतः यहां के नरेश उसके सामन्त बन गये। कक्क का पुत्र वाउक ई० सन् 825 के लगभग राजगद्दी पर, अपने भाईयों से युद्ध करने के पश्चात वैठा। वाउक ने अपने को कान्यकुब्ज के प्रतिहारों से स्वतंत्र किया लेकिन वाद में उसको पुनः उनके आधीन होना पड़ा। वाउक के वाद उसका सौतेला भाई कक्कुक, जो ई० सन् 861 में राजगद्दी पर वैठा, ने रोहिन्सकूप (घटियाला) में आभीरों द्वारा नष्ट की गई हाट व्यवस्था को फिर से चालू किया।[1] वहां उसने एक जैन मन्दिर भी वनवाया।

कक्कुक के बाद इस क्षेत्र के प्रतिहारों का कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता है। यों वि० सं० 993 का एक शिलालेख चौराई गांव से मिला है जिसमें प्रतिहारों का उल्लेख मिलता है लेकिन इससे उनके वंशक्रम का पता नहीं चलता है। इस वक्त तक यहां कान्यकुब्ज के प्रतिहारों का पूर्ण आधिपत्य हो गया था और यहां के प्रतिहार एक सामन्त के रूप में ही राज्य करने लगे थे। यों इनका आधिपत्य मण्डोर के आसपास चोदहवीं शताब्दी के अन्त तक रहा। मण्डोर का दुर्ग वाद में चूण्डा राठौड़ को मण्डोर के पड़िहारों ने दहेज में दिया था–

ईंदा रो उपकार कमधज कदै न वीसरै।
चूण्डौ चँवरी चाढ, दियौ मंडोवर डायजै ॥[2]

---

[1] घटियाला का लेख श्लोक 16-21, जर्नल आफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी (1895) पृ० 513-21, एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 9 पृ० 279।

[2] जयमल वंश प्रकाश, पृ० 52।

प्रतिहारों के मूल पूर्वज हरिचन्द्र के एक पुत्र हृद ने दक्षिणी गुजरात में (राजधानी नान्दीपुरी), दूसरे पुत्र ने अवन्ति में (राजधानी उज्जैन) राज्य स्थापित किये। अरब जुनियाद के आक्रमण के बाद अवन्ति का प्रतिहार नरेश नागभट्ट शक्तिशाली बन गया। उसने अरबों को पश्चिमी भारत से हटाया अतः उसका सर्वत्र आदर किया जाने लगा तथा उसके वंशज और भी अधिक आदर की दृष्टि से देखे जाने लगे। उसके राज्य में मालवा, गुजरात व राजपूताना का काफी भाग था। नागभट्ट के बाद उसके भतीजे कक्क और देवराज क्रमशः गद्दी पर बैठे। देवराज के बाद उसका पुत्र वत्सराज, उसके बाद नागभट्ट (द्वितीय)[1] रामभद्र व भोज राजगद्दी पर बैठे। द्वितीय नागभट्ट ने ई० सन् 814 के लगभग कन्नोज पर कब्जा किया। ग्वालियर अभिलेख के अनुसार उसने आनर्त (उत्तरी काठियावाड़), मालवा, मत्स्य, किरात देश (हिमालय का प्रदेश), तुरुष्क प्रांत (सिन्ध) और वत्स राज्य (कौशाम्बी) को विजय किया था। रामचन्द्र के राज्यकाल में जोधपुर के प्रतिहार पुनः स्वतंत्र हो गये। भोज ने पुनः उन्हें अधीन करना चाहा लेकिन वह विफल रहा। भोज के बाद महेन्द्रपाल (885-907), महीपाल, विनायकपाल, महेन्द्रपाल (द्वितीय), देवपाल, विनायकपाल (द्वितीय), महीपाल (द्वितीय) तथा विजयपाल हुए। पिछले चार राजाओं ने काफी कम समय (ई० सन् 945-960) तक राज्य किया। इनका राज्य भी घटते घटते केवल कन्नौज के ईर्द गिर्द रह गया। प्रतिहारों का राज्य बाद में राजपूताना में गहलोतों व चौहानों ने, गुजरात में चालुक्यों (सोलंकियों) ने, तथा मालवा में परमारों (पंवारों) ने समाप्त किया। अब वे विभिन्न प्रांतों में बिखर गये।

कर्नल टॉड का यह लिखना ठीक नहीं है कि राजस्थान के इतिहास में परिहारों का कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं है तथा वे सदैव पराधीनता की अवस्था में दिल्ली के तंवर अथवा अजमेर के चौहान राजाओं के अधीन सामन्त रहे हैं।[2] इसके विपरीत शक्तिशाली प्रतिहारों के कारण ही पश्चिमी व उत्तर भारत की ओर अरब आक्रमणकारी बढ़ नहीं सके। तंवर और चौहान तो उनके बाद ही शक्तिशाली बने हैं।

---

[1] द्वितीय नागभट्ट का वि० सं० 872 चैत्र सुदि 5 (ई० सन् 815 की 19 मार्च, सोमवार) का एक शिलालेख बुचकला (बीलाड़ा परगना, जोधपुर राज्य) से मिला है। एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 9 पृ० 199।

[2] टॉड कृत एनल्स एण्ड एण्टीक्युटीज ऑफ राजस्थान (क्रुक सम्पादित ऑक्सफर्ड संस्करण), भाग 1 पृ० 120।

प्रतिहारों की शाखा में ईन्दा, सुन्ध्या, चोयल, जेठवा, तखी, और कल्लहंस है।

इस समय मध्य-भारत के बघेलखण्ड के नागोद में प्रतिहारों (पड़िहारों) का राज्य है। बुन्देलखण्ड में अलीपुरा ठिकाना तथा काठियावाड़ में पोरबन्दर का ठिकाना, जिनकी खांप जेटला[1] है, प्रतिहारों का है।

6

सोलंकी राजवंश

करने हेतु मांस, हड्डियाँ आदि गन्दी वस्तुओं को फेंकना आरम्भ किया। उनसे बचाव के लिये वशिष्ठ ने पहले तीन योद्धा- प्रतिहार, चालुक्य व परमार को यज्ञ कुण्ड से उत्पन्न किया लेकिन वे दैत्यों को भगाने में असफल रहे। तब वशिष्ठ ने एक अन्य कुण्ड से चार हाथों वाला योद्धा चहुवान उत्पन्न किया। इस योद्धा ने आसापुरी की सहायता से दैत्यों को मार भगाया [1]। नैणसी की ख्यात, [2] जोधराज के हम्मीररासो [3] सूर्यमल मिश्रण के वंश भास्कर [4] में भी लगभग ऐसी ही कथा दी गई है। कर्नल टॉड ने इस कथा को सत्य मान लिया [5] तथा इसी के आधार पर विन्सेण्ट स्मिथ ने यह कल्पना कर ली कि सम्भवत: प्रतिहार, परमार, चालुक्य व चौहान अनार्य थे जिन्हें अग्नि द्वारा शुद्ध किया गया व उन्हें हिन्दू धर्म में सम्मिलित किया गया। वास्तव में ये कल्पनायें निराधार हैं। कोई भी इस कथा पर तो विश्वास ही नहीं कर सकता कि कोई योद्धा अग्नि से उत्पन्न हुआ। अत: इसमें कोई सत्यता नहीं है कि ये चारों वंश अग्निवंशी हैं। प्राचीन शिलालेखों, ताम्रपत्रों तथा ऐतिहासिक पुस्तकों में कहीं में इन्हें अग्निवंशी होना नहीं लिखा गया है। इसके विपरीत विभिन्न शिलालेखों में इन्हें चन्द्रवंशी लिखा गया है, यथा—

> जयति जगति नित्यं सोमवंशो महीभृच्छिरसि निहितपादस्संश्रय:
> ....चालुक्यानां कुलमलंकरिष्णो: [7]

> श्रीमानभूत् पुरा कश्चित्सोमवंशे महायशा:।
> चालुक्य विमलादित्य चक्रवर्ती नृपाग्रणी:।। [8]

> सोमान्वये समभवद्भुवि राजराजदेवस्सतामभिमतो
> नृपचक्रवर्ती। [9]

---

1 चन्द कृत पृथ्वीराजरासो (ना० प्र० सभा) भाग 1 पृ० 45-51
2 वही, भाग 1 पृ० 119
3 वही, पृ० 7-14
4 वही, पृ० 515
5 टॉड कृत राजस्थान, भाग 1 पृ० 107-108
6 विन्सेण्ट स्मिथ कृत अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 412
7 इण्डियन एंटिक्वेरी, जिल्द 14 पृ० 56. यह ताम्रपत्र श० सम्वत् 1065 का है।
8 एपिग्राफिआ इंडिका, जिल्द 5 पृ० 32-33
9 उपरोक्त, जिल्द 5 पृ० 36

यस्सोमवंशतिलकः शकवत्सरेषु वेदांवुराशिनिधिवर्त्तिषु [1]

इसी प्रकार जैन आचार्य हेमचन्द्र के "द्वयाश्रय महाकाव्य" में गुजरात नरेश भीमदेव सोलंकी को चन्द्रवंशी लिखा है। [2] हर्षगणी ने भी भीमदेव सोलंकी को "चन्द्रवंश का भूषण" लिखा है। [3] अतः स्पष्ट है कि चालुक्य चन्द्रवंशी-क्षत्रिय हैं।

चालुक्यों की उत्पत्ति के बारे में एक और विलक्षण बात कही जाती है और वह है चालुक्य का चुलुक (अंजली या चुल्लु) से उत्पन्न होना। एक और कथा प्रचलित है कि इनके पूर्वज का जन्म हारीत द्वारा, अर्घ्य अर्पण करते समय उसके जलपात्र से हुआ। कवि बिल्हण ने लिखा है कि ब्रह्मा ने 'चुलुक' (अंजली या चुल्लु) से एक वीर उत्पन्न किया जो चुलुक्य कहलाया। वि० सं० 1208 (ई० सन् 1151) की वडनगर - प्रशस्ति में भी ऐसा ही लिखा गया है कि राक्षसों से देवताओं की रक्षा करने की प्रार्थना करने पर ब्रह्मा ने अपने चुलुक में गंगा का पवित्र जल लेकर एक वीर उत्पन्न किया जो चौलुक्य कहलाया। [4] उसी से यह नई जाति उत्पन्न हुई। तार्किक दृष्टि से यह सब असम्भव बातें हैं जिन्हें कोई मान नहीं सकता है।

बिल्हण ने हारीत और मानव्य को चालुक्य वंश में बतलाया है। इनका पहले अयोध्या में तथा बाद में दक्षिण में राज्य करना बतलाया है। कर्नल टॉड ने इनका मूल स्थान लाहौर बतलाया है। [5] उपलब्ध तथ्यों से यही ज्ञात होता है कि चालुक्य उत्तर भारत के ही क्षत्रिय थे और उनका मूल पुरूष हारीत था। दक्षिण भारत के चालुक्य उत्तरी भारत के चालुक्यों से भिन्न हैं। दक्षिण के चालुक्यों का गौत्र मानव्य था लेकिन उत्तरी भारत के चालुक्यों का गौत्र भारद्वाज था। [6]

उत्तरी भारत के चालुक्य महाराजाधिराज राजी के पुत्र मूलराज ने अपने मामा चावड़ा (चापोटक) सामन्तसिंह को मारकर अनहिलवाडा (पाटण) में अपना राज्य स्थापित किया। कुछ विद्वान इस घटना का

---

1 उपरोक्त, जिल्द 4 पृ० 307
2 सर्ग 9 श्लोक 40–59
3 वस्तुपाल चरित, 9 : 79
4 वडनगर प्रशस्ति, श्लोक 2–3, एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द 1 पृ० 296
5 टॉड कृत राजस्थान, जिल्द 1 पृ० 116
6 इण्डीयन एण्टीक्वेरी, जिल्द 1 पृ० 253

समय ई० सन् 961 बतलाते है [1] लेकिन सांभर के अभिलेख से यह तिथि ई० सन् 941 के आसपास की मानी जानी चाहिये । [2]

मूलराज तथा उसके वंशजों के नाम विभिन्न शिलालेखों, ताम्रपत्रों व पुस्तको में मिलते हैं। इतनी सही वंशावलियाँ तथा उनके शासन काल का उल्लेख और किसी राजवंश का नही मिलता है। मूलराज ने आबू परमारों से छीना था। उसने सारस्वत-मण्डल विजय किया था। बाद में शाकम्भरी का विग्रहराज चौहान, मूलराज के राज्य में सारस्वत-मण्डल व लाट (दक्षिणी गुजराज) जीतकर नर्मदा तक पहुँच गया। इस पर मूलराज को उससे संधि करनी पड़ी । यों मूलराज का राज्य उत्तर में साँचोर (जोधपुर राज्य) तक थ।, पूर्व व दक्षिण में साबरमति के काँठे तक था। उसकी मृत्यु ई० सन् 995 के लगभग हुई ।

मूलराज के उत्तराधिकारी क्रमश: इस प्रकार हुए— चामुण्डराज, बल्लभराज, दुर्लभराज, भीमदेव, कर्णदेव, जयसिह, कुमारपाल, अजयपाल, मूलराज (द्वितीय), भीमदेव द्वितीय व त्रिभुवनपाल । मूलराज के बाद के राजाओं में प्रथम भीमदेव ने ई० सन् 1021 से 1063 तक राज्य किया। भीम ने ई० सन् 1030 के लगभग आबू को परमार धन्धुक से जीतकर वहाँ अपना राज्यपाल प्रागवट (पोरवाल) विमल को नियुक्त किया। विमल ने आबू पहाड़ पर आदिनाथ का विशाल व सुन्दर मन्दिर बनवाया । बाद में भीम ने धन्धुक को आबू लौटा दिया। अत: उसका पुत्र पूर्णपाल ई० सन् 1042 तक स्वतत्र रूप से राज्य करता रहा लेकिन ई० सन् 1062 के आबू के लेख से ज्ञात होता है कि आबू पुन: सोलंकियों के कब्जे में चला गया था जो उनके अधिकार में तेरहवीं शताब्दी के अन्त तक रहा। भीम ने भीनमाल के परमार कृष्णराज को भी हराकर कैद किया था। लेकिन बाद में नाडोल के चौहान अनहिल के पुत्र बालप्रसाद ने भीमदेव को हराकर उसे कृष्णराज परमार को छोड़ने को विवश किया था।

भीमदेव का पौत्र जयसिह सिद्धराज (ई० सन् 1093-1143), एक असाधारण नरेश था। उसने नाडोल तथा सांभर के चौहानों को हराकर वहाँ तक अपना राज्य बढाया। उसने भीनमाल के परमारों को भी हराया

---

1 बाम्बे गजेटियर, खण्ड 1, भाग 1 पृ० 156

2 इण्डीयन एण्टीक्वेरी, जिल्द पृ० 235-236

मूलराज के पहले भी गुजरात प्रान्त के लाट आदि प्रदेशों पर सोलंकियो की छोटी छोटी शाखाओं का अधिकार रहना पाया जाता है।

था। सांभर के चौहान अर्णोराज को हराकर, उससे अपनी पुत्री का विवाह कर के, सांभर उसे लौटा दिया। उसने वागड़ को भी जीता था।

जयसिंह के कोई पुत्र नहीं था। अतः उसका एक दूर का संबंधी कुमारपाल राजगद्दी पर बैठा। उसने भी सांभर के अर्णोराज तथा आबू के परमार नरेश को हराया था। इस प्रकार सोलंकियों का राजस्थान से भी काफी सम्बन्ध रहा।

सोलंकियों की 16 शाखायें इस प्रकार हैं—बाघेला, वीरपुरा, वेहिला, भूरता, कालेचा, लंघा, तोगरू, वीकू, सारके, सिरवरिया, राव्रका, राणकिया, खरूरा, तांतिया, अलमेचा व कुलामोर।[1]

सोलंकियों के वर्तमान राज्य रीवाँ, लूणावडा, बांसदा और थिराद हैं।

——

7

यादव राजवंश

यादव अपने को चन्द्रवंश के ययाति के पुत्र यदु का वंशधर बतलाते हैं। पुराणों के अनुसार चन्द्रवंश के मुख्य राजाओं की वंशावलि इस प्रकार है—

---

[1] कर्नल टॉड कृत राजस्थान, भाग 1 पृ० 119

समय ई० सन् 961 बतलाते हैं[1] लेकिन सांभर के अभिलेख से यह तिथि ई० सन् 941 के आसपास की मानी जानी चाहिये।[2]

मूलराज तथा उसके वंशजों के नाम विभिन्न शिलालेखों, ताम्रपत्रों व पुस्तकों में मिलते हैं। इतनी सही वंशावलियाँ तथा उनके शासन काल का उल्लेख और किसी राजवंश का नहीं मिलता है। मूलराज ने आबू परमारों से छीना था। उसने सारस्वत-मण्डल विजय किया था। बाद में शाकम्भरी का विग्रहराज चौहान, मूलराज के राज्य में सारस्वत-मण्डल व लाट (दक्षिणी गुजराज) जीतकर नर्मदा तक पहुँच गया। इस पर मूलराज को उससे संधि करनी पड़ी। यों मूलराज का राज्य उत्तर में साँचोर (जोधपुर राज्य) तक था, पूर्व व दक्षिण में साबरमति के काँठे तक था। उसकी मृत्यु ई० सन् 995 के लगभग हुई।

मूलराज के उत्तराधिकारी क्रमशः इस प्रकार हुए– चामुण्डराज, वल्लभराज, दुर्लभराज, भीमदेव, कर्णदेव, जयसिंह, कुमारपाल, अजयपाल, मूलराज (द्वितीय), भीमदेव द्वितीय व त्रिभुवनपाल। मूलराज के बाद के राजाओं में प्रथम भीमदेव ने ई० सन् 1021 से 1063 तक राज्य किया। भीम ने ई० सन् 1030 के लगभग आबू को परमार धन्धुक से जीतकर वहाँ अपना राज्यपाल प्रागवट (पोरवाल) विमल को नियुक्त किया। विमल ने आबू पहाड़ पर आदिनाथ का विशाल व सुन्दर मन्दिर बनवाया। बाद में भीम ने धन्धुक को आबू लौटा दिया। अतः उसका पुत्र पूर्णपाल ई० सन् 1042 तक स्वतंत्र रूप से राज्य करता रहा लेकिन ई० सन् 1062 के आबू के लेख से ज्ञात होता है कि आबू पुनः सोलंकियों के कब्जे में चला गया था जो उनके अधिकार में तेरहवीं शताब्दी के अन्त तक रहा। भीम ने भीनमाल के परमार कृष्णराज को भी हराकर कैद किया था। लेकिन बाद में नाडोल के चौहान अनहिल के पुत्र बालप्रसाद ने भीमदेव को हराकर उसे कृष्णराज परमार को छोड़ने को विवश किया था।

भीमदेव का पौत्र जयसिंह सिद्धराज (ई० सन् 1093-1143), एक असाधारण नरेश था। उसने नाडोल तथा सांभर के चौहानों को हराकर वहाँ तक अपना राज्य बढाया। उसने भीनमाल के परमारों को भी हराया

---

1 बाम्बे गजेटियर, खण्ड 1, भाग 1 पृ० 156

2 इण्डीयन एण्टीक्वेरी, जिल्द पृ० 235-236

मूलराज के पहले भी गुजरात प्रान्त के लाट आदि प्रदेशों पर सोलंकियों की छोटी छोटी शाखाओं का अधिकार रहना पाया जाता है।

था। सांभर के चौहान अर्णोराज को हराकर, उससे अपनी पुत्री का विवाह कर के, सांभर उसे लौटा दिया। उसने वागड़ को भी जीता था।

जयसिंह के कोई पुत्र नहीं था। अतः उसका एक दूर का संबंधी कुमारपाल राजगद्दी पर बैठा। उसने भी सांभर के अर्णोराज तथा आबू के परमार नरेश को हराया था। इस प्रकार सोलंकियों का राजस्थान से भी काफी सम्बन्ध रहा।

सोलंकियों की 16 शाखायें इस प्रकार हैं—बाघेला, वीरपुरा, बेहिला, भूरता, कालेचा, लंघा, तोगरू, वीकू, सारके, सिरवरिया, रात्रका, राणकिया, खरूरा, तांतिया, अलमेचा व कुलामोर।[1]

सोलंकियों के वर्तमान राज्य रीवाँ, लूणावडा, वांसदा और थिराद हैं।

——

7

यादव राजवंश

यादव अपने को चन्द्रवंश के ययाति के पुत्र यदु का वंशधर बतलाते हैं। पुराणों के अनुसार चन्द्रवंश के मुख्य राजाओं की वंशावलि इस प्रकार है—

---

[1] कर्नल टॉड कृत राजस्थान, भाग 1 पृ० 119
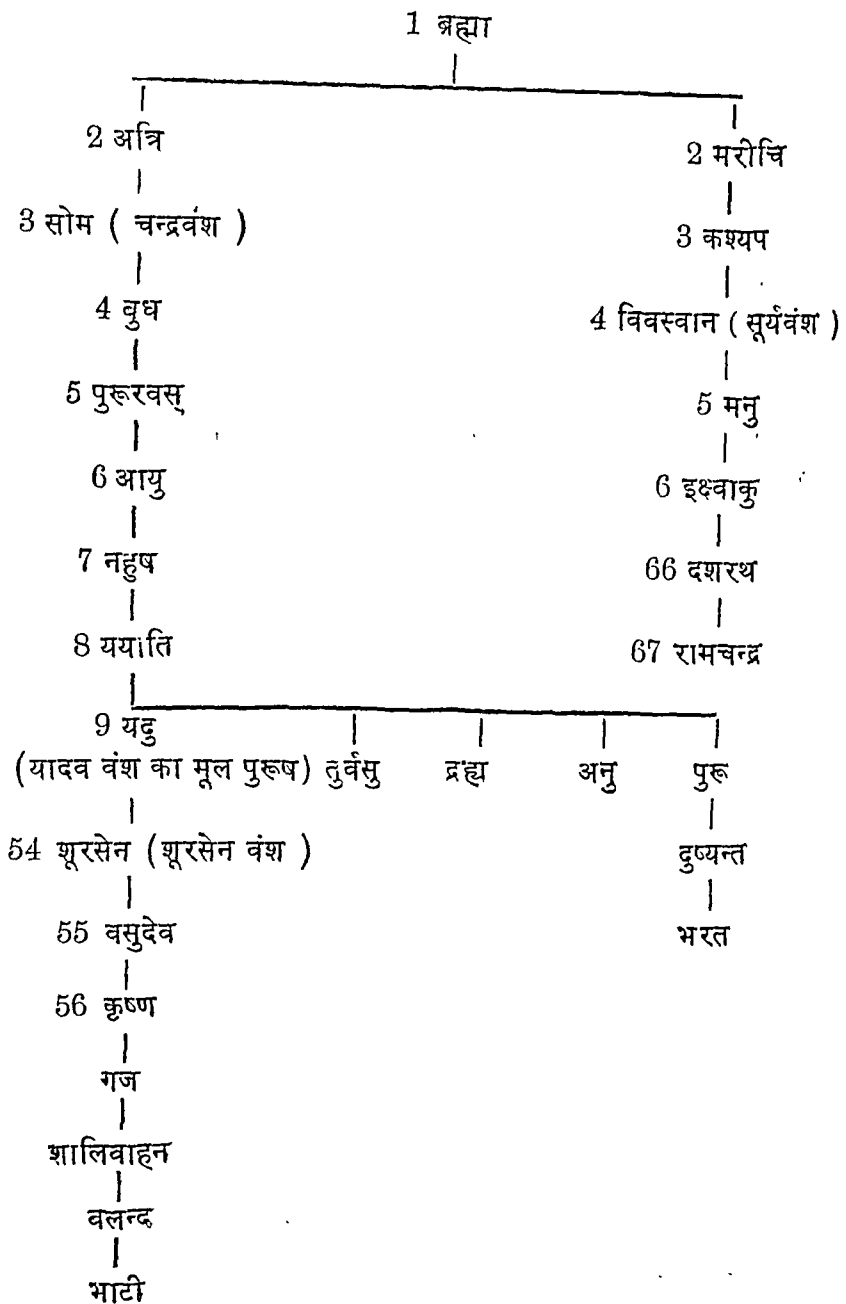
मनु के चार पुत्रों–इक्ष्वाकु, प्रांगु, सुद्युम्न और शर्याति ने भारत में सबसे पहले आर्य-राज्य स्थापित किये । यह घटना लगभग 3000 ईसा

पूर्व की है। इक्ष्वाकु के वंश में रामचन्द्र हुए थे। महाभारत के समय में इस वंश का राजा वृहद्रथ था। इनका वंश सूर्यवंश कहलाया।

मनु की पुत्री इला का पुत्र पुरूरवस् ऐल का उल्लेख ऋग्वेद में भी मिलता है। इसी वंश में यदु हुआ, जिससे वंशधर यादव कहलाये। महाभारत काल में कृष्ण इसी वंश में हुए। महाभारत की घटना लगभग 1500 ईसा पूर्व हुई। इनका वंश चन्द्रवंश कहलाया।

पुराणों में दी वंशावलियाँ कहाँ तक सही हैं, ठीक से नहीं कहा जा सकता है लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि कृष्ण व रामचन्द्र अलग अलग वंशों में हुए थे—एक चन्द्रवंश से था, तो दूसरा सूर्यवंश से।

भारत में मुसलमानों के आने के पहले यादवों का राज्य काठियावाड़, कच्छ, राजपूताना, मथुरा के आसपास का भाग (जो अब भरतपुर, करौली, धोलपुर, गुड़गांव, आगरा और ग्वालियर कहलाता है) तक फैला हुआ था। यहाँ तक कि दक्षिण में भी इसके राज्य होने के प्रमाण प्राचीन शिलालेखों व ताम्रपत्रों से मिलते हैं। दक्षिण का सेउण प्रदेश जो नासिक से दौलताबाद (निजाम राज्य) तक का भू-भाग है, वह भी किसी समय यादवों के अधिकार में था। दक्षिण में द्वारसमुद्र, जो मैसूर राज्य के अन्तर्गत है तथा विजयनगर (दक्षिण) यादव राजवंश के अधिकार में थे। इनका प्रभुत्व सिन्धु नदी के दक्षिणि भाग में तथा पंजाब भी रहा था।

राजपूताने में करौली का वर्तमान राजवंश अपने को यादववंशी तथा मथुरा की शूरसेनी शाखा से निकला हुआ मानता है। यदुवंशियों का राज्य जो पहले प्रयाग में था, वह श्रीकृष्ण के समय में व्रजदेश (मथुरा) में रहा, ऐसा महाभारत व भागवत से ज्ञात होता है। श्रीकृष्ण के दादा शूरसेन के पीछे मथुरा और उसके आसपास के प्रदेश का नाम 'शूरसेन' पड़ा।[1] श्रीकृष्ण ने तो मगध के राजा जरासन्ध के विरोध के कारण अपनी राजधानी मथुरा के स्थान पर द्वारका बना ली। जब श्रीकृष्ण की कूट नीति द्वारा जरासन्ध मारा गया तब यादवों ने फिर अपना सिर ऊँचा किया और मथुरा से स्वतंत्र हो गये। इन यादवों का राज्य व्रज प्रदेश में, सिकन्दर के आक्रमण के समय में, होना पाया जाता है। समय समय पर शक, मौर्य, गुप्त,

[1] वहाँ की भाषा भी शूरसेनी (शौरसेनी अपभ्रंश) नाम से प्रसिद्ध हुई। इस भूभाग में रहने वाली जातियाँ भी इसी जनपद के नाम को धारण करने लगीं, जैसे-सैनी, बारह-सैनी, चौसैनी आदि।

सीथियनों आदि ने यादवों का राज्य दवाया लेकिन मौका पाते ही यादव फिर स्वतंत्र हो जाते थे।

करौली राजवंश का मूल पुरूष विजयपाल मथुरा के इसी यादव राजवंश से था। वह अपनी राजधानी मथुरा से हटाकर पास की मानी पहाड़ी पर ले गया और वहां एक किला 'विजय मन्दिर गढ़' वि०सं० 1097 (ई० सन् 1040) में बनवाकर अपनी राजधानी स्थापित की। यही किला बाद में बयाना के गढ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। विजयपाल, श्रीकृष्ण को इठ्यासवीं पीढ़ी में होना बतलाया जाता है। इगणोडा (देवास राज्य) से मिले वि० सं० 1190 आषाढ सुदि 11 (ई० सन् 1133 की जून 15) के शिलालेख [1] में इसके पुत्र तहणपाल को,'परम भट्टारक महाराजाधिराज'लिखा गया है। विजयपाल के एक पुत्र गजपाल के वंशधरों में जैसलमेर के भाटी बतलाये जाते हैं [2], लेकिन यह ठीक नहीं है क्योंकि भाटी शाखा का मूल पुरूष भट्टी (भाटी) वि० सं० 680 (ई० सन् 623) में हुआ था। उसी ने वि० सं० 680 से भट्टिक-संवत चलाया था। इस संवत के नाम के कई शिलालेख अब तक मिल चुके हैं।[3] अतः भाटी, विजयपाल से बहुत पहले हो चुका था।

तहणपाल ने तवनगढ का किला बनवाया था। इसके राज्य में वर्तमान अलवर राज्य का आधा हिस्सा, भरतपुर, धौलपुर व करौली के राज्य तथा गुड़गांव व मथुरा से लेकर आगरा व ग्वालियर के कुछ भाग भी सम्मिलित थे। [4] बाद में इसके वंशधर कुमारपाल को, मुहम्मद गौरी से हारकर, बयाना व तवनगढ़ छोड़ने पड़े थे और कामा की ओर जाना पड़ा। इसके वंशधर अर्जुनपाल ने चौदहवीं शताब्दी में सरमपुरा के 24 गांवों को बसाया और धीरे धीरे अपने पूर्वजों के राज्य पर पुनः अधिकार किया।

---

1 इण्डियन एण्टीक्वेरी भाग 6 पृष्ठ 55

2 केप्टेन पावलेट कृत 'करौली-गजेटियर' (ई० सन् 1874) पृष्ठ 2. जैसलमेर की तवारीख में वहाँ के नरेशों के पूर्वज यादव वंशी महाराजा गज को (विक्रम की छठ्ठी शताब्दी में) गजनीपुर में होना माना है और गज की पाँचवी या छटी पीढी का वहाँ से पंजाब की ओर चलकर राजपूताना में आना लिखा है (लक्ष्मीचन्द और नथमल कृत 'तवारीख-जैसलमेर' (ई० सन् 1891) पृष्ठ 11

3 लेखक कृत 'राजपूताने का इतिहास' प्रथम भाग (जैसलमेर-राज्य का खंड) पृष्ठ 651

4 कनिंगहम की आर्कियालोजिकल सर्वे रिपोर्ट, भाग 20 पृष्ठ 3

वि० सं० 1405 (ई० सन् 1348) में इसने कल्याणजी का मन्दिर बनवाकर कल्याणपुरी नगर बसाया जो अब करौली कहलाता है।[1] यही इस राज्य की राजधानी बना। अतः अब यह राज्य करौली राज्य कहलाता है।

मुहम्मद गौरी से भगाये जाने पर बयाना के कुछ यादव उत्तर पश्चिम की ओर जाकर तिजारा व सरहट्ट (उत्तरी अलवर) में जा रहे। बाद में उनमें से कुछ ने मुस्लिम धर्म अपना लिया और खांनजादा कहलाते हैं।

यादव राजवंश के वर्तमान राज्य, राजपूताना के बाहर मैसूर, त्रिपुरा, जामनगर, राजकोट, गोंडल, कच्छ, मौरवी और धरोल हैं।

ख्यातों के अनुसार यादवों की एक शाखा पंजाब में जा बसी थी। वह स्थान यदु की डांग कहलाया।[2] इसी वंश में रज नामक नरेश छठी शताब्दी के अन्त में पुरुषपुर (पेशावर) में राज्य करता था। उसके पुत्र गज ने गजनीपुर[3] तथा पौत्र शालिवाहन ने शालभानपुर (स्यालकोट) बसाये थे। शालिवाहन के पुत्र बलन्द के राज्यकाल में उसके राज्य के पश्चिमी भाग पर शत्रुओं ने कब्जा कर लिया लेकिन इसके पुत्र भट्टी ने अपने पिता के शत्रुओं से बदला लिया और अपने राज्य का विस्तार किया। उसने अपने नाम से भट्टिक संवत् भी वि० सं० 680 (ई० सन् 623) से चलाया। उसने भटनेर (बीकानेर राज्य) बसाया, जो अब हनुमानगढ़ कहलाता है। जैसलमेर राज्य के भाटी राजवंश का मूल पुरुष यही है।

भट्टी के पुत्र मंगलराव को गजनी के ढुण्ढी ने परास्त कर शालभानपुर से निकाल दिया[4] अतः वहां से हटकर उसने राजपूताने के उत्तर पश्चिमी व भावलपुर राज्य के दक्षिण पूर्वी भाग में बसे राजपूतों के प्रदेश पर कब्जा कर लिया। इसके पुत्र मंजमराव ने नये राज्य में मरोट नामक किला तथा पौत्र केहर ने अपने प्रिय पुत्र तणु के नाम पर तणुकोट (तन्नोट) नामक वि० सं० 787 (ई० सन् 730) में बनवाया।[5] बाद में तणु के पुत्र

---

[1] लेखक का राजपूताने का इतिहास, प्रथम भाग (करौली राज्य) पृष्ठ 602

[2] पंजाब के उत्तरी भाग में पहाड़ी प्रदेश।

[3] कनिंघहम ने इसे रावलपिण्डी के पास होना बतलाया है जहां यह गाजीपुर या गजनीपुर कहलाता था (आर्कियालाजिकल सर्वे रिपोर्ट, भाग 2 पृष्ठ 20)।

[4] कर्नल टाड कृत राजस्थान, में।

[5] रासमाला, प्रथम भाग, पूर्वार्द्ध पृष्ठ 91

विजयराज को वाराह राजपूतों ने तरणुकोट से निकाल बाहर किया। विजयराज लड़ाई में मारा गया। बाद में उसके पुत्र देवराज ने देरावल (भावलपुर राज्य) बसाकर वहां अपना राज्य स्थापित किया। उस वक्त यह क्षेत्र, वल्लमाड कहलाता था। इसने अपना राज्य बढ़ाना आरम्भ किया लेकिन तब ही मण्डोर नरेश शिलुक प्रतिहार ने इसे युद्ध में हराकर इसकी आगामी विजयों पर रोक लगा दी।[1] देवराज ने लोदरा राजपूतों से लोद्रवा (जैसलमेर के उत्तर पश्चिम में 10 मील) जीतकर वहां अपनी नई राजधानी स्थापित की।

देवराज के वंशधरों में विजयराव बहुत प्रसिद्ध है। उसके शिलालेख वि० सं० 1221, 1223 व 1232 के मिले हैं। इस समय तक हिन्दुस्तान पर मुसलमानों के काफी आक्रमण होने लग गये थे। इन आक्रमणों को विजयराव ने बड़े साहस से रोका। अतः भाटियों के लिये प्रसिद्ध हो गया "उत्तर भड़ किवाड़ भाटी" अर्थात भाटी (मुसलमानों के) हमलों को रोकने वाले उत्तर के द्वारपाल हैं। यह उपाधि आज दिन तक जैसलमेर के नरेश लगाते हैं। विजयराव बड़ा दातार था, अतः वह लंजा विजयराव कहलाता था। इसकी मृत्यु के बाद भोजराज राजगद्दी पर बैठा लेकिन वह निसंतान मरा, अतः राजगद्दी पर इसका चाचा जैसलदेव बैठा।

जैसलदेव ने लोद्रवा को राजधानी के उपयुक्त नहीं समझकर, इससे 10 मील दूर एक छोटी पहाड़ी पर वि० स० 1212 (ई० सन् 1155) में किला बनवाया और वहां बस्ती बसवाई।[2] इसका नाम जैसलमेर रखा गया। वि० सं० 1234 (ई० सन् 1178) से यहां नई राजधानी स्थापित कर दी गई। तब से यह राज्य जैसलमेर राज्य कहलता है।

यादवों की शाखा व उपशाखाऐं इस प्रकार हैं:— सूरसैन, बनाफर, काबा, जाड़ेचा, हाल, सरवहया, भाटी, जस्सा, पुङ्गलिया, उनड, केलण, रावलोत, चूडासमा, पाहु व खींया।

---

1 ख्यातों में जैसलमेर नगर की नींव वि० सं० 1212 श्रावण सुदि 12 रविवार (ई० सन् 1155 की 12 जुलाई) को रखी जाना लिखा है।

2 जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी, ई० सन् 1894 पृष्ठ 6

——

8

परमार राजवंश

परमार अपने मूलपुरुष परमार का आवू पर्वत पर महर्षि वशिष्ठ के अग्निकुण्ड से उत्पन्न होना कह कर अपने को अग्निवंशी कहते हैं; परन्तु यह कपोल कल्पना है क्योंकि मालवे के परमार राजा मुंज (वि० सं०1028 से 1054, ई० सन् 972 से 997)के राजपंडित हलायुध ने "पिंगल सूत्रवृत्ति" में मुंज को ब्रह्मक्षत्र कुल का कहा है। इस शब्द की व्याख्या करने में इतिहासवेत्ताओं का मतभेद है। कोई कहता है कि ब्राह्मण वशिष्ठ के यज्ञ की रक्षा करने वाले और राक्षसों के प्रहारों को निवारण करने वाले को परमार कहा है। दूसरा यह भी मत है कि ये लोग ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों वर्णों की मिश्रित संतान हैं। अथवा ये विधर्मी थे और ब्राह्मणों ने शुद्ध करके इनको क्षत्रिय बना लिया। इससे इनके लिये "ब्रह्मक्षत्र-कुलीन" शब्द का प्रयोग किया गया है। एक यह भी अर्थ लगाया जाता है कि जिसके वंशज ब्राह्मण-वर्ण से क्षत्रिय हुये हों उनको "ब्रह्मक्षत्र" कहते हैं या उन लोगों को जिनमें ब्राह्मण व क्षत्रिय दोनों के गुण पाये जावें।

राजा मुंज के काल के पीछे के शिलालेखों तथा ऐतिहासिक पुस्तकों में परमारों के मूल पुरुष का आवू पर वशिष्ठ के अग्निकुण्ड से उत्पन्न होना अवश्य लिखा मिलता है, परन्तु यह कल्पना भी इतिहास के अन्धकार में पीछे से की हुई प्रतीत होती है। परमारों के शिलालेखों में उक्त वंश के मूल पुरुष का नाम धूमराज मिलता है। धूम अर्थात् धुंआ अग्नि से उत्पन्न होता है। शायद इसी से परमारों के मूलपुरुष का अग्निकुण्ड से निकलना और उनके अग्निवंशी कहलाने की कथा को पीछे से घड़न्त कर ली हो तो आश्चर्य नहीं ?

परमारों के शिलालेखों में, "परमार" और "प्रमार" दोनों शब्द लिखे मिलते हैं। इनमें परमार शब्द का प्रचार अधिक है। हाँ! कहीं कहीं "प्रमार" शब्द भी लिखा मिलता है। राजपूताना और मालवा में पंवार

तथा दक्षिण देश में "प्रमार" शब्द प्रसिद्ध है। परमार शब्द का अर्थ शत्रुओं को मारने वाला है।

परमार राष्ट्रकूटों के सेवक थे। ई० सन् 812 के लगभग राष्ट्रकूट तृतीय गोविन्द ने प्रतिहार द्वितीय नागभट्ट को हराकर मालवा जीता और उसे अपने सेवक उपेन्द्र (कृष्णराज) परमार को दे दिया। उपेन्द्र परमारों का सबसे प्राचीन राजा माना जाता है। उसके पूर्व के राजाओं के नाम अभी तक ज्ञात नहीं हुए हैं।

उपेन्द्र के दो पुत्र हुए—वेरीसिंह और डम्बरसिंह। वेरीसिंह मालवा में ही रहा लेकिन उसके छोटे भाई डम्बरसिंह ने बागड (वर्तमान बांसवाड़ा व डूंगरपुर राज्य) को जीतकर मालवा राज्य के अधिनस्त अलग राज्य स्थापित किया।

मालवा के परमार मुंज ने अपना राज्य वर्तमान झालावाड़ राज्य, मेवाड़ राज्य, नाडोल व किराडू तक फैलाया था। मुंज ने आबू जीतकर अपने पुत्रों—अरण्यराज व चन्दन को क्रमशः आबू व जवालिपुर (वर्तमान जालोर) का शासन सौंप दिया। उसने अपने भतीजे दुसल को भीनमाल का शासन सौंप दिया था। इस प्रकार आबू और उसके आसपास के सिरोही, पालनपुर[1], मारवाड़ और दांता राज्यों के कई भागों पर इनका अधिकार था। इनकी राजधानी चन्द्रावती थी जो आबू रोड रेल्वे स्टेशन से लगभग 4 मील दक्षिण में है। कहते हैं कि आबू पर्वत का अचलगढ़ का किला और चन्द्रावती नगरी इन्हीं लोगों की बसाई हुई है। इनके मूलपुरुष धूमराज के (या परमार) वंश में, आबू का प्रथम राजा सिन्धुराज सं० 1000 लगभग

---

1 आबू के परमार राजा धारावर्ष (वि० सं० 1220 से 1276) के छोटे भाई प्रल्हादन देव (पालनसी) ने अपने नाम से प्रल्हादनपुर नगर बसाया था जो अब पालनपुर के (उत्तर गुजरात में) नाम से प्रसिद्ध है और नव्वाब पालनपुर की राजधानी है।

के हुआ है। सिन्धुराज से 5वाँ वंशधर धरणीवराह[1] हुआ। इसके नाम से राजपूताने में एक छप्पय प्रसिद्ध है:--

मंडोवर सांवत हुओ अजमेर सिंधुसू ।
गढ़पूंगल गजमाल हुओ लोद्रवे भानभू ।।
आल पाल अर्बुद भोजराज जालंधर ।
जोगराज धरधाट हुओ हांसू पारकर ।।
नवकोटि किराडू संजुगत थिर पंवारा थापिया ।
धरणीवराह धर भाईयां कोट बीटजू जू किया ।।

इस छप्पय में कुछ भी सत्यता नहीं पाई जाती है क्योंकि उस समय अजमेर तो बसा ही नहीं था। वह तो अजयदेव चौहान के समय सं० 1176 के आसपास बसा माना जाता है और आबू पर आल (अल्ह) व पाल (पल्ल) का होना भी नहीं पाया जाता है। शायद यह छप्पय पीछे से किसी ने गढ़ा है जिसे पंवारों के प्राचीन इतिहास का ठीक ठीक ज्ञान न था।

आबू पर इन परमारों का राज्य करीब संवत् 1368 के आप पास तक रहा। इनकी एक शाखा ने मौर्य्यों से विक्रम की 10वीं शताब्दी में मालवा प्रांत छीन कर उज्जेन नगरी को अपनी राजधानी बनाया, जैसा कि प्रसिद्ध है—

पृथ्वी पुंवारां तणी अनै पृथ्वी तणे पंवार ।
एका आबू गढ देसणों दूजी उज्जेनी धार ।।

फिर इस वंश के आठवें राजा सिन्धु राज तक परमारों की राजधानी उज्जैन में रही। सुप्रसिद्ध विद्याप्रेमी राजा भोज ने अपनी राजधानी

[1] धरणीवराह का समय वि० स० 1040 के आसपास माना जाता है। इसके पीछे इसका ज्येष्ठ पुत्र महिपाल (देवराज) आबू का राजा हुआ। दूसरे पुत्र बाहड़ के तीन पुत्र सोढा, सांखला और बाघ थे। सोढा से सोढा शाखा और सांखला से सांखला शाखा कहलाईं। विपत्ति काल से सोढा सिन्ध प्रांत में सूमरा जाति के यादव राजा के पास गया। उन्होंने उसे राताकोट दिया और फिर उसने उनसे अमरकोट पाया (मूता नेणसी ख्यात, पृष्ठ 234)। राणा सोढा परमार का समय वि० सं० 1100 के लगभग है। सोढा के वंशधरों का राज्य तो चला गया परन्तु उनकी जागीरें अब तक अमरकोट (सिन्ध) में हैं। अमरकोट के सोढा राणाओं के इतिहास पर हम फिर कभी प्रकाश डालेंगे।

मालवा में स्थापित की जहां वहुत समय तक परमारों की राजधानी रही। यथा—

जहाँ पँवार तहाँ धार, धार जहाँ पँवार।
धार बिना पँवार नहीं, नहीं पँवार बिना धार।।

यह राजा भोज वि० सं० 1110 के लगभग तक विद्यमान था। इसके वंशजों से वि० सं० 1367 (ई० सन् 1310) के लगभग मुसलामानों ने छीन लिया। अतः पँवार राजा जयसिंह के वंशज जगनेर, रणथंभोर आदि स्थानों में होते हुए मेवाड़ में चले गये। वहाँ महाराणा ने उन्हें जागीर विजोलिया[1] का इलाका दिया जो आज भी उनके वंशजों के अधिकार में है और वे महाराणा के मुख्य 16 सरदारों में से हैं।

मुहता नैणसी ने अपनी ख्यात में परमारों की 36 शाखाये दी हैं— पंवार, सांखला, भरमा, भावल, पेस, पाणीसवल, वहिया, वाहल, छाहड, मोटशी, हुँवड, सीलोरा, जैपाल, कंगवा, काब, उमट, धांधू, धूरिया, भाई, कछोड़िया, काला, कालमुह, खेरा, खूंटा, ढल, ढेसल, जागा, ढुंढा, गूंगा, गैहलड़ा, कलीलिया, कूकण, पीथलिया, डोडा, वारड़।

परमार वंश के 24 राजाओं ने लगभग 500 वर्ष तक मालवे में राज्य किया[2]। इस वंश में मुञ्ज और प्रथम भोज यह दो राजा वड़े प्रतापी और विद्याप्रेमी हुये हैं।[3]

---

1 इसी विजोलिया ठिकाने का एक कुंवर शम्भू सिंह गृह-कलह के कारण वि० सं० 1672 में दक्षिण में चला गया, जिसके वंशधर मध्यप्रान्त के धार देवास नरेश हैं जो वाद में मरहठों में मिल गये।

2 भाटों की ख्यातों (ऐतिहासिक वहियों) में मालवे के राजा उदयादित्य के एक पुत्र का नाम जगदेव परमार लिखा है और उसकी वीरता व उदारता की कथा वड़े विस्तार से वर्णन करके फिर उसका मालवे पर राज करना लिखा है। परन्तु इसमें सत्यता नहीं पाई जाती है। इस नाम का कोई व्यक्ति मालवा के परमार राजा उदयादित्य के वंश में, चाहे हुआ हो, पर मालवा का राजा नहीं हुआ है।

3 कई लोग विक्रम संवत् को चलाने वाले वीर विक्रमादित्य को भी पंवार और उज्जैन का राजा कहते हैं परन्तु पुराने शिलालेखों, ताम्रपत्रों और ऐतिहासिक पुस्तकों में इस विषय का कुछ भी वृतान्त नहीं मिलता है। यदि मुञ्ज, भोज आदि पवार राजाओं के समय में भी ऐसा मानते तो वे अपने प्रशस्तियों (ख्याति) में वीर विक्रम के वंशज होने का गौरव प्रकट किये विना कभी नहीं रहते।

इस समय निम्नलिखित नृपतिगण परमार राजवंश से कहे जाते हैं:—

मालवे में—नरसिंहगढ़, राजगढ़, धार, देवास, वख्तगढ़, और मथवार।

वुन्देलखण्ड में—छत्रपुर राज्य व वेरी ठिकाना।

संयुक्त प्रांत में—टेहरी[1] (गढ़वाल)।

पंजाव में—वाघल।

विहार में—डुमराँव वड़ी ताल्लुकेदारी।

गुजरात में—दांता, सूँथ, मूली।

——

9

राठौड़ राजवंश

जोधपुर का प्रसिद्ध राजघराना राठौड़ राजवंश कहलाता है। क्षत्रियों के छत्तीस राजकुलों में राठौड़ों का राजवंश वहुत प्राचीन है। "आईने अकवरी" से ज्ञात होता है कि सम्राट अकवर की सेना में 60हजार

---

[1] इस कुल का ईडर (गुजरात) राज्य से विवाह सम्बन्ध है।

सवार और दो लाख पैदल राठौड़ थे ।[1] कर्नल टॉड का मत है कि मुगल सम्राटों ने जितनी विजय प्राप्त की थी, उनमें से अधिकांश का श्रेय राठौड़ों को था ।[2] राजपूताने में प्रसिद्ध है कि:—

बल-हट बंका देवड़ा, करतब-बंका गौड़ ।
हाडा बंका गाढ में, रणबंका राठौड़ ॥

अर्थात् देवड़ा राजपूत बल और हठ में एक ही हैं, गौड़ अपने कर्त्तव्य में अपूर्व हैं । हाडा बदन से गठीले होने में लासानी हैं और राठौड़ रणक्षेत्र में अद्वितीय हैं ।

व्रज देसाँ, चंदण वडा, मेरु पहाड़ाँ मोड़ ।
गरुड़ खगाँ, लंका गढ़ाँ, राजकुलाँ राठौड़ ॥

अर्थात् देशों में व्रज, वृक्षों में चन्दन, पहाड़ों में सुमेरु, पक्षियों में गरुड़, किलों में लंका और राजकुलों में राठौड़ बड़े हैं ।

राठौड़ों की उत्पत्ति के विषय में बड़ा मतभेद है । इनकी ख्यात में लिखा है कि ये इन्द्र की रहट (रीढ़) से उत्पन्न हुए, इसलिए राठौड़ कहलाये ।[3] एक मत है कि इनकी कुलदेवी राष्ट्रसेना या राठाणी थी, उसके नाम से राष्ट्रकूट राठौड़ कहलाये ।[4] कहीं लिखा है कि इनका मूल पुरुष राष्ट्रकूट था इससे राठौड़ प्रसिद्ध हुए ।[5] दूसरी ओर राठौड़ों के बड़वा-भाट इनको दैत्यवंशी हिरण्यकशिपु की संतान बतलाते हैं ।[6] कर्नल टॉड ने इन्हें भी राजपूतों के दूसरे वंशों की तरह उत्तर की ओर से आये हुए शक आदि अनार्यों की - जिन्होंने हिन्दूधर्म तथा सभ्यता स्वीकार कर ली थी—सन्तान लिखा है ।[7] डॉ० विन्सेंट स्मिथ, और उसके लेखों की छाया पर निर्भर रहनेवाले कुछ भारतीय विद्वानों का कहना है कि राठौड़, गाहड़वाल और

---

[1] आईने—अकबरी. जिल्द 3, पृ० 44—45 ।

[2] टॉड राजस्थान, जि० 1, पृ० 105 (क्रुक सम्पादित) ।

[3] राजरत्नाकर, भा० 1, तरग 1, पृ० 87 ।

[4] सर सुखदेव कृत दि राठौर्स, देयर ओरिजिन एण्ड ग्रोथ—(ई०सन् 1896), भूमिका पृ० 1 ।

[5] राजरत्नाकर, भाग 1 तरंग 1, पृ० 88 ।

[6] टॉड राजस्थान, जि० 1 पृ० 105, ए० ई०, जि० 5, पृ० 23 ।

[7] टॉड राजस्थान, जि० 1, पृ० 73 ।

चंदेल आदि प्रसिद्ध राजवंश प्राचीन आर्य क्षत्रिय नहीं; किन्तु गोंड आदि जंगली असभ्य जातियों से निकले हुए हैं और वाद में उन्होंने अपनी उत्पत्ति सूर्य और चन्द्र से जा मिलाई।[1] कुछ लोगों का ऐसा भी अनुमान है कि राठौड़ दक्षिण के द्रविड़ हैं। परन्तु राठौड़ अपने को शुद्ध क्षत्रिय आर्य और अयोध्या के महाराजा रामचन्द्र के ज्येष्ठ पुत्र कुश के वंशज वतलाते हैं।

राठौड़ों का सम्बन्ध प्राचीन अभिलेखों और वाङ्मय के रठिकों या राष्ट्रिकों से, जिनके नाम से महाराष्ट्र देश का नाम पड़ा है, प्रतीत होता है। राठिकों का उल्लेख हम अशोक के लेखों में भी पाते हैं।[2]

वेरूल की गुफाओं में खुदे लेखों में भी राष्ट्रकूट शब्द मिलता है।[3] कई विद्वान् यह मानते हैं कि राष्ट्रकूट या राठौड़ उत्तर भारत से दक्षिण में गये; परन्तु सुप्रसिद्ध ऐतिहासज्ञ विद्वान् डाक्टर सर रामकृष्ण गोपाल भांडारकर और महामहोपाध्याय रायवहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के मतानुसार राठौड़ों का मूल-राज्य दक्षिण में था और वहीं से उन्होंने पीछे से गुजरात, राजपूताना, मध्यप्रदेश, मालवा, गया (पीठी) आदि प्रान्तों में राज्य स्थापित किये।

राठौड़ों का सातवीं शताब्दी के पूर्व का प्राचीन इतिहास अन्धकार में है। उत्तर-भारत के राष्ट्रकूट अभिमन्यु का ताम्रपत्र मिला है जिसमें उन्डिकवाटिका नामक ग्राम का दान देना सूचित होता है।[4] उसमें संवत् नहीं है परन्तु उसकी लिपि सातवीं शताब्दी की अनुमान की जाती है।[5]

सिरूर[6] और नवसारी[7] से मिले शिलालेखों और ताम्रपत्रों में राष्ट्रकूट और रट्ट शब्द का प्रयोग किया गया है।

---

1 अ० हि० ई० (तृतीय संस्करण), पृ० 322।

2 डॉ० वर्नेले रट्ट शब्द को तैलगू भाषा के रेड्डी शब्द का रूपान्तर मानते हैं, जो उस भाषा में वहां के आदिम निवासी किसानों के लिए प्रयुक्त होता है।

3 केव-टेंपल्स इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० 12।

4 अर्ली हिस्ट्री आफ दि डेक्कन पृ० 47।

5 फ्लीट-वं० ग० 1, 2, पृ० 146; ए०, इं०, जि० 8 पृ० 163।

6 इं० ए०, जि० 22 पृ० 220।

7 ज० वं० रा० ए० सो०, जि० 28 पृ० 266।

मेवाड़ के महाराणा कुम्भा के बेटे रायमल की रानी और राव जोधा राठौड़ की पुत्री शृंगारदेवी की बनाई हुई घोसूंड़ी-बावड़ी के वि०सं० 1561 के शिलालेख में "राष्ट्रवर्य" शब्द तथा नाडोल (मारवाड़) के चौहान कीर्तिपाल के सं० 1218 सावन सुदि 14 के ताम्रपत्र में "राष्टौड" शब्द राठौड़ों के लिए मिलता है।[1] इसी राष्टौड शब्द से राठौड़ बन गया और यही आजकल प्रचलित है। राठौड़ों की शाखायें हैं—धांधुल, भड़ैल, चचिकत, धूहड़िया, खोखरा, वदूरा, छाजिड़ा, रामदेवा, कबरिया, हडूंडिया, मालावत, सून्डू, कटैवा, मूहोली, गोगादेवा, जयसिहा, महेवा, मूरसिया, जोबसिया, जोरा आदि।

राठौड़ अपने को सूर्य्यवंशी मानते हैं। राठौड़ राजवंश के लगभग 90 प्राचीन शिलालेख ओर ताम्रपत्र दक्षिण, गुजरात आदि से मिले हैं। इनमें से वि० सं० 917 से सं० 1065 तक के 8 लेखों में राठौड़ों का चन्द्रवंशी होना लिखा है,[2] बाकी में उनकी उत्पत्ति के विषय में कुछ नहीं लिखा है। राठौड़ों का सूर्य्यवंशी होना सोलहवीं शताब्दी के लेखों से प्रारंभ हुआ जाना जाता है।

इतिहासवेत्ताओं में एक और विवाद चला आता है। वह यह है कि राठौड़ और गाहड़वाल (गहरवार) वंश एक है या भिन्न वंश। जोधपुर राज्य के मतानुसार गाहड़वाल और राठौड़ एक ही वंश के हैं और गाहड़वाल राठौड़ों की शाखा मात्र है। इस विषय में कई विद्वान् यह प्रश्न करते हैं कि राठौड़ों का गोत्र गौतम और गाहड़वालों का कश्यप है, फिर दोनों एक कैसे? गहरवारों का राठौड़ होना आजतक किसी शिलालेख में नहीं मिला। राठौड़ों की गाहड़वाल शाखा का होना किसी ख्यात या काव्य आदि में भी नहीं पाया जाता और गाहड़वाल और राठौड़ आज तक आपस

---

1 जोधपुर राज्य के बाली परगना के गांव कोयल की वाव का अप्रकाशित लेख इस प्रकार है—

'संवत् 1208 माघ सुदि 1
सोमेश्री जसधवल राजे
राठउड़ पुनसिंह सुत
पुणपाल सुत थाहनु सो
मनदे वि० थंमन ठा (थंमा) कारीता'

2 ए० इ०, जि० 6 पृ० 29; ज० बं० ए० सो०, जि० 18 पृ० 261।

में विवाह तक करते हैं।[1] इसके सिवा गाहड़वालों को कर्नल टॉड ने राठौड़ से हल्का माना है। पुराने लेखों में गाहड़वालों को सूर्यवंशी और राठौड़ों को चन्द्रवंशी लिखा है।

इन शंकाओं के उत्तर में जोधपुर राज्य के इतिहास-विभाग का कहना है कि गौत्र तो अपने गुरु के वदलने पर वदल जाता है। विवाह एक ही खांप (कुल) की उप शाखा में हो जाया करता है। गाहड़वाल भी अपने को राठौड़ ही कहते हैं। रही चन्द्रवंश और सूर्यवंश की वात सो यह एक मनघड़न्त कल्पना मात्र है। इस विषय में केप्टिन ल्यूर्ड,[2] हेमचन्द्रराय,[3] ओझा आदि कई विद्वानों का मत है कि गाहड़वाल राठौड़ों की शाखा नहीं है, गाहड़वाल एक स्वतन्त्र कुल है। कन्नोज के गाहड़वालों के राज्य में वदायूँ पर राठौड़ों का अधिकार था।

इसके साथ-साथ यह प्रश्न भी है कि वर्तमान जोधपुर राजवंश के मूलपुरुष किसके वंशधर हैं? जोधपुर-राज्य तो इनको कन्नोज के गाहड़वाल महाराज जयचन्द्र के वंशधर मानता है। उसके मत में कन्नोज के गाहड़वाल का मूलपुरुष चन्द्र और उनके पड़ोसी वदायूँ के राठौड़ों का मूल-पुरुष चन्द्र एक ही व्यक्ति था। चन्द्र ने पहले वदायूँ और वाद में कन्नोज पर अधिकार किया। वदायूँ में वह राठौड़ कहलाया और कन्नोज में उसके वंशजों का नाम गाहड़वाल पड़ा क्योंकि कन्नोज का पुराना नाम गाधिपुर था जो विगड़ कर गाहड़ हुआ। चन्द्र का वड़ा पुत्र मदनपाल कन्नोज की गद्दी पर वैठा और विग्रहपाल को छुटभैया के रूप में वदायूँ का राज मिला। यही हाल सं० 1253 के आसपास तक रहा। कन्नोज की शाखा में जयचन्द्र और उसका पुत्र हरिचन्द्र हुआ और वदायूँ की शाखा में लखनपाल (लगभग वि० संवत् 1280 में)। कन्नोज की शाखा में हरिश्चन्द्र का पुत्र सेतराम माना जाता है जिसका पुत्र राव सीहा वि० सं० 1282 के लगभग कन्नोज से मारवाड़ में आया।

---

[1] क्षत्रिय मित्र (दिसम्बर 1933 ई०), भाग 24 संख्या 21 पृ० 24, पंक्ति 33; "लीडर" पत्र (प्रयाग), ता० 28 नवम्बर 1932 ई०, पृ० 17।

[2] रूलिंग् प्रिंसेज् एण्ड चीफस् एण्ड लीडिंग फेमिलीज् इन सेन्ट्रल इण्डिया (1932 ई०), पृ० 9।

[3] डायनेस्टिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इण्डिया (प्राचीन काल और मध्यकाल), कलकत्ता यूनिवर्सिटी, जि० 1 पृ० 56-465।

परन्तु कई विद्वानों का मत इसके विरुद्ध है। वे तो बदायूँ की शाखा को राठौड़ और कन्नोज की शाखा को गहड़वाल मानकर इन दोनों राजवंशों को भिन्न-भिन्न मानते हैं और कहते हैं कि कन्नोज और वदायूँ के राजघरानों का मूल-पुरुष एक नहीं था, जैसा कि जोधपुर राज्य के महकमे-तवारिख ने माना है। वदायूँ के राठौड़ों के मूलपुरुष का नाम चन्द्र मिलता है और कन्नोज को विजय करनेवाले राजा का नाम चन्द्रदेव। बदायूँ का चन्द्र कन्नोज के चन्द्रदेव से पहले हुआ था। उसके छठे उत्तराधिकारी मदनपाल का सं० 1176 (ई० सन् 1119) का शिलालेख गोंडा (अवध) जिले के सहेठ महेठ स्थान से मिला है। उसमें लिखा है कि गाधिपुर (कन्नोज) के राजा गोपाल का सलाहकार विद्याधर था और मदन के समय भी वह उसी पद पर नियत था। गोपाल नाम का कन्नोज के गाहड़वाल राजाओं में कोई नहीं हुआ। इससे पाया जाता है कि मदन, गोपाल का पुत्र होगा। बदायूँ के शिलालेख में गोपाल के तीन पुत्रों के नाम त्रिभुवनपाल और देवपाल लिखे हैं, जिन्होंने एक दूसरे के बाद वहाँ का राज्य पाया। मदन या मदनपाल वि० सं० 1176 (ई० सन् 1119) में विद्यमान था। उसके पहले उसका भाई त्रिभुवनपाल राजा था और त्रिभुवनपाल का पिता गोपाल कन्नोज का राजा था। इससे पाया जाता है कि वदायूँ के राष्ट्रकूट राजा गोपाल ने पड़िहारों के कमजोर होने पर उनका राज्य छीन लिया था। मदन या मदनपाल वि० स० 1176 में विद्यमान था। ऐसी दशा में उसके भाई त्रिभुवपाल का वि० सं० 1156 के आसपास होने का अनुमान किया जा सकता है और गोपाल का वि० सं० 1136 (ई० सं० 1079) के आस-पास मौजूद होना माना जा सकता है।

उधर गाहड़वाल चन्द्रदेव का सबसे पहला दानपत्र वि० सं० 1148 (ई० सन् 1191) का मिला है,[1] इसलिए पाया जाता है कि गाहड़वाल चन्द्रदेव ने राठौड़ गोपाल या उसके पुत्र त्रिभुवनपाल से कन्नोज का राज्य छीन लिया हो।

---

6 आ० स० ई० (न्यू सीरीज), जि० 1, पृ० 71; ज० बं० ए० सो०, जि० 61, भाग 1, एक्स्ट्रा नम्बर, पृ० 60।

बदायूँ के शिलालेख के अनुसार वंशवृक्ष नीचे लिखे अनुसार बनता है—
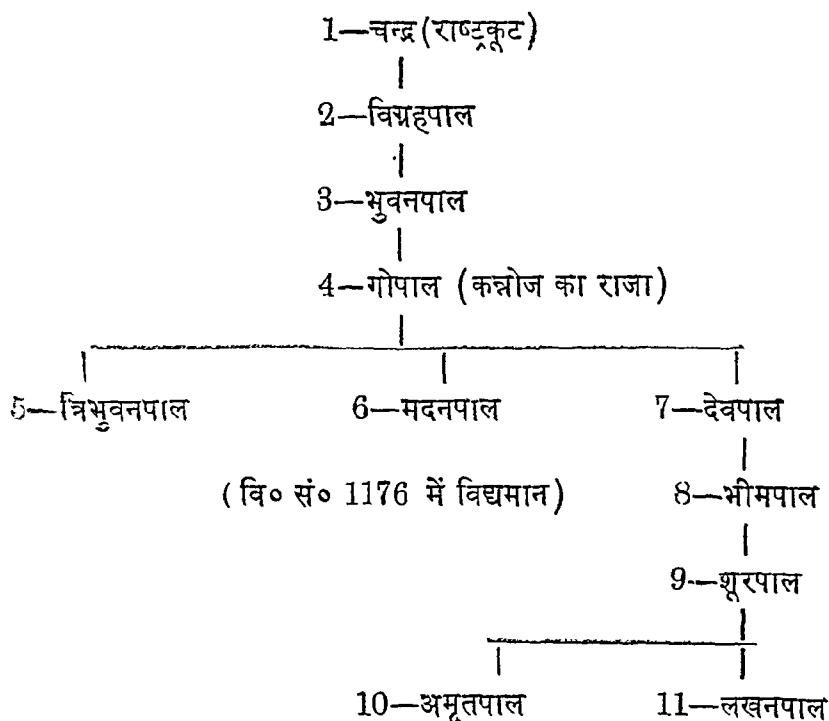
गाहड़वाल चन्द्रदेव ने कन्नोज का राज्य या तो गोपाल राठौड़ से या उसके पुत्र त्रिभुवनपाल से लिया होगा। बदायूँ का राठौड़ चन्द्र, गाहड़वाल चन्द्रदेव से भिन्न और उससे पहले हुआ था।

उनका कथन है कि बदायूँ (कन्नोज प्रांत) के राठोड़ों का वंशज सेतराम या सीहाजी था। जोधपुर के राठौड़, गाहड़वाल राजा जयचन्द के वंशज होते तो बुन्देलों की भांति वे गाहड़वालों की छोटी शाखा में माने जाते। अतः वे गाहड़वाल नहीं हैं किन्तु शुद्ध राठौड़ ही हैं।

ऐतिहासिक खोज के पूर्व कन्नोज के राजा जयचन्द्र को पृथ्वीराज-रासो और कर्नल टॉड के अनुसार राठौड़ ही मानते थे परन्तु अब कन्नोज के जयचन्द्र के पूर्वजों के अनेक ताम्रपत्र मिले हैं जिनमें उनको गाहड़वाल ही लिखा है, राठौड़ कहीं नहीं लिखा है। इससे विद्वानों ने अनुमान किया है कि कन्नोज का गाहड़वाल राजवंश एक स्वतन्त्र वंश है और वह किसी की

शाखा नहीं है। इधर जोधपुर राजघराना अपने को राठौड़ मानता है। और साथ ही राठौड़ वंश का कन्नोज से आना मानते है। बदायूँ भी कन्नोज राज्य के अन्तर्गत था। इसलिये बदायूँ से गये हुए राठौड़, कन्नोज राज्य से आये हुए माने जावें तो कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

जोधपुर के राठौड़ों का सम्बन्ध कन्नोज के गहड़वालों से मिलाना भाटों की कल्पना मात्र है। आधुनिक खोजों से यह कल्पना निर्मूल सिद्ध हो गई है और इनकी उत्पत्ति कन्नोज प्रांतीय बदायूँ के राठौड़ों से होना पुष्ट हो रही है। इन सब पर विचार करते हैं तो अब इसमें तो तनिक भी सन्देह नहीं रहा कि मारवाड़ के वर्तमान राठौड़ राजवंश के मूलपुरुष राव-सीहाजो थे, जो लगभग वि० सं० 1300 (ई० नन् 1243) के इधर आये। मारवाड़ के परगने बाली के गांव बीजापुर के पास हतूँडी, (हस्तिकुन्डा) के खण्डहरों से वि० सं० 1946 में मिले सं० 1053 की माघ सुदि 13 रविवार (ई० सन् 996 ता० 13 जनवरी) के शिलालेख[1] से ज्ञात होता है कि सीहा राठौड़ के साढ़े तीन सौ वर्ष पहले भी यहां चार राठौड़ राजा राज्य कर चुके थे। इसलिये ख्यातों में जो लिखा है कि मारवाड़ में प्रथम प्रवेश करनेवाले राठौड़, सीहाजो ही थे, सो ठीक नहीं है।

—:o:—

1 एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द 10 पृ० 17।

10

चौहान राजवंश

चौहान राजवंश का मूलपुरुष चाहमान माना जाता है।[1] इसी के वंशज चवहाण या चौहान कहलाये। चाहमान कब हुआ तथा वह किस स्थान पर राज्य करता था? यह निश्चित नहीं है। सूर्यमल मिश्रण ने वंशभास्कर में चाहमान व उसके पीछे के 36 राजाओं द्वारा शासन करने का उल्लेख किया है।[2] जयानक कृत 'पृथ्वीराज विजय महाकाव्यम्' के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि चाहमान अत्यन्त शक्तिशाली शासक था और उसके छोटे भाई धनंजय के नेतृत्व में चाहमान ने समस्त भारत पर अधिकार किया और अन्तिम समय में चाहमान धार्मिक केन्द्रों की यात्रा करता हुआ, पुष्कर में मृत्यु को प्राप्त हुआ।[3] चन्दवरदाई ने लिखा है कि आबू पर्वत पर विश्वामित्र, गौतम, अगत्स्य आदि ऋषि जब यज्ञ कर रहे थे तब दैत्यों ने यज्ञ में बाधा डालना आरम्भ किया। उनसे बचाव के लिये वशिष्ठ ने पहले तीन योद्धा प्रतिहार चालूक्य तथा परमार को यज्ञ कुण्ड से उत्पन्न किया लेकिन वे दैत्यों को भगाने में असफल रहे। व वशिष्ठ ने एक अन्य कुण्ड से चार हाथों वाला योद्धा चहुवान उत्पन्न किया। इस योद्धा ने आसापुरी देवी की सहायता से दैत्यों को मार भगाया।[4] नैणसी की ख्यात[5], जोधराज के हम्मीर-

---

[1] एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द 11 पृ० 308; तथा 'पृथ्वीराज विजय महाकाव्यम्', सर्ग 2 श्लोक 71–82।

[2] वंशभास्कर, भाग 2 पृ० 518–22 और 727-30।

[3] पृथ्वीराज विजय महाकाव्य, सर्ग 2 श्लोक 71–82।

[4] पृथ्वीराज रासो, आदि पर्व पृ० 49–51।

[5] नैणसी की ख्यात, भाग 1 पृ० 119।

रासो[1], सूर्यमल मिश्रण के वंशभास्कर[2] में भी लगभग ऐसी ही कथा दी गई है। अतः इस आधार पर ये चाहमान कुल के राजपूत अग्निवंशी कहलाये। इन ग्रन्थों में इन राजपूतों को अग्निवंशी स्वीकार करते हुए भी इन्हें सूर्यवंशी बतलाया गया है। पृथ्वीराज रासो में क्षत्रियों को तीन वंशों में विभक्त किया गया है—रघुवंशी, चन्द्रवंशी और यादववंशी। अग्निकुल में उत्पन्न होने वाले इन कुलों को सूर्यवंश में होना बतलाया है।[3] इसी प्रकार सूर्यमल मिश्रण ने अपनी कृति में स्वीकार किया है कि कुछ लोग अग्निवंशी क्षत्रियों को सूर्यवंशी भी मानते हैं।[4] अजमेर के 'अढाई दिन के झोंपड़े' में प्राप्त शिलालेख में भी चौहानों को सूर्यवंशी बतलाया गया है। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि चौहान सूर्यवंशी हैं।

कर्नल टॉड[5], विन्सेण्ट स्मिथ[6], भण्डारकर[7] आदि ने अग्निकुल से उत्पन्न राजपूतों को विदेशी बतलाया है जिनको अपनी रक्षा केलिये, ब्राह्मणों ने अग्नि से शुद्ध करके आर्यधर्म में सम्मिलित किया। उन्होंने यह अनुमान, इन राजपूतों की उत्पत्ति अग्निकुण्ड से हुई की कथा के भ्रम से लगाया है। वास्तव में इन राजपूतों की यह मूल-कथा केवल एक मिथ्या प्रवाद मात्र है। ऐतिहासिक दृष्टि से पृथ्वीराज रासो प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है क्योंकि इसमें ज्यादातर काव्य की कल्पनाओं वाले प्रसंग हैं और ऐतिहासिक सत्यता को स्थान नहीं दिया है। इसमें काफी सामग्री बाद में लगभग सत्रहवीं शताब्दी तक जोड़ी जाती रही। इसके आलावा रासोकार स्वयं स्वीकार करता है कि अग्निकुण्ड से उत्पन्न हुए कुल सूर्यवंशी हैं। कुछ इतिहासकारों ने राजपूतों के उदयकाल के आधार पर राजपूतों व हूणों को एक ही वंश का मानना चाहा है। तीसरी व चौथी शताब्दी के पश्चात् आर्य क्षत्रियों की परम्परा का लुप्त हो जाना स्वीकार किया जा सकता है परन्तु यह मान लेना कि आर्य क्षत्रिय वंश के शासक सदा के लिए नष्ट हो गये ठीक प्रतीत नहीं होता है। चौथी शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक प्राचीन क्षत्रिय शासक, सम्पूर्ण भारत की राजनीति में प्रभावशाली तो

---

[1] हम्मीर रासो, पृ० 7–14।

[2] वंशभास्कर, पृ० 515।

[3] पृथ्वीराज रासो, आदि पर्व पृ० 54।

[4] वंशभास्कर, प्रथम भाग पृ० 87।

[5] टॉड राजस्थान, भाग 1 पृ० 76।

[6] अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 426।

[7] इण्डियन एण्टीक्वेरी, जिल्द 41 पृ० 25–29।

नहीं रह सके परन्तु यत्र-तत्र प्रान्तीय व क्षेत्रिय स्तर पर अवश्य दृढ़ रहे। चित्तौड़ में बापा रावल के पहले मौर्य क्षत्रिय राज्य करते थे। गुप्त काल और हर्ष के समय भारत में कई क्षत्रिय-राजतन्त्र थे। सम्भव है कि चौहान वंश के शासक भी इसी प्रकार के क्षत्रिय रहे हों जो प्रारम्भ में अखिल भारतीय राजनीति में प्रभावशाली न रहे हों लेकिन बाद में चौहान का तथाकथित मूलपुरुष 'चाहमान' प्रसिद्ध गया हो जिसके कारण उसके वंशधर चौहान कहलाये।

शिलालेखों के आधार पर प्रारम्भिक चौहान-शासक अहिछत्रपुर[1] में राज्य करते थे। पृथ्वीराज-महाकाव्यम् में इस बात का उल्लेख है कि चाहमान के एक वंशज वासुदेव ने शाकम्भरी (सांभर) झील पर अधिकार कर अपना राज्य स्थापित कर लिया। यह प्रदेश सपादलक्ष (सवा लाख गाँवों का क्षेत्र) भी कहलाया था। वि० सं० 1030 के हर्षनाथ (शेखावाटी) मन्दिर के शिलालेख में गूवक से विग्रहराज तक की तथा वि० सं० 1226 के बिजोलिया (मेवाड़) शिलालेख में सामन्त से सोमेश्वर तक की वंशावली दी गई है। दोनों शिलालेखों में गूवक से दुर्लभराज तक आठ राजाओं की वंशावली समान ही है। दुर्लभराज के पिता विग्रहराज की मृत्यु वि० सं० 1030 (ई० सन्० 973) में हुई। इस तिथि के आधार पर तथा प्रत्येक शासक का राज्यकाल 20 वर्ष का अनुमान किया जावे तो गूवक का राज्यकाल वि० सं० 890 (ई० सन् 833) के लगभग आता है। अतः नवीं शताब्दी के मध्य में चौहानों का शासन शाकम्भरी क्षेत्र में होने का अनुमान किया जा सकता है।

शाकम्भरी के चौहानों ने अपना राज्य धीरे-धीरे फैलाया और उनके एक वंशज सिंहराज ने महाराजाधिराज की पदवी भी धारण की थी तथा इसने हर्षनाथ का प्रसिद्ध मन्दिर बनवाया था। इसके पुत्र द्वितीय विग्रहराज व दुर्लभराज ने अपना राज्य और भी बढ़ाया। अतः दशवीं शताब्दी के अन्त तक शाकम्भरी का राज्य उत्तर में सीकर, दक्षिण में पुष्कर, पूर्व में जयपुर तथा पश्चिम में परवतसर तक हो गया था। इनके वंशज चतुर्थ विग्रहराज ने तंवरों से दिल्ली जीती थी। शाकम्भरी के चौहान राजवंश

---

1 डॉ० मथुरालाल शर्मा, डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा आदि इतिहासकार अहिछत्रपुर को वर्तमान नागोर मानते हैं लेकिन यह सांभर के निकट ही कहीं कोई दूसरा स्थान होना चाहिये।

की शाखा तृतीय पृथ्वीराज के साथ ई० सन् 1192 में समाप्त हो गई। पृथ्वीराज के भाई तथा पुत्र ने भी कुछ समय तक राज्य किया लेकिन वे नाम मात्र के शासक थे। तृतीय पृथ्वीराज भारत के अत्यन्त शक्तिशाली नरेशों में से था। वह भारत का अन्तिम हिन्दू सम्राट था।

वासुदेव के ही एक वंशज प्रथम वाक्पतिराज के पुत्र लक्ष्मण ने नाडोल में अपना अलग राज्य वि० सं० 1024 (ई० सन् 967) में स्थापित किया। नाडोल में चौहानों की इस शाखा ने तेरहवीं शताब्दी तक राज्य किया। नाडोल के चौहान शासक अह्लन के एक पुत्र कीर्तिपाल ने वि० सं० 1235 (ई० सन् 1178 में जावालिपुर (जालोर) में राज्य स्थापित कर वहां की स्वर्णगिरि-पहाड़ी पर दुर्ग बनवाया। इसके वंशज इस कारण सोनगरा भी कहलाये। इस वंश का राज्य वि० सं० 1371 (ई० सन् 1314) तक वहां रहा जब कि अलाउद्दीन खिलजी ने वहां के शासक कान्हड़देव को मारकर समाप्त किया।

जालोर के कीर्तिपाल के ही एक वंशज प्रतापसिंह, जो देवराज भी कहलाता था, से चौहानों की देवड़ा शाखा चली। प्रतापसिंह के पिता मानवसिंह को जालोर के आसपास कुछ गांव गुजारे में मिले हुए थे। मानवसिंह ने धीरे-धीरे आगे बढ़कर आबू व चन्द्रावती से परमारों को हरा कर अपना अलग राज्य स्थापित किया। इन्हीं के वंशधर वर्तमान सिरोही राज्य के शासक हैं।

नाडोल के लक्ष्मण के वंशधर, अह्लण के ही एक पुत्र विजयसिंह ने सत्यपुर (वर्तमान सांचोर) में अपना अलग राज्य स्थापित किया। इसी प्रकार आह्लण के छोटे भाई माणिकराव के वंशधरों ने बून्दी में अपना अलग राज्य स्थापित किया।[1] माणिकराव ने प्रारम्भ में भैंसरोड तक ही अपने राज्य को सीमित रखा परन्तु बाद में उसने बम्बावदा पर अधिकार करके उसे अपनी राजधानी बनाया। माणिकराव के उत्तराधि-कारियों में संभारण, जैतराव, अनगराव, कुन्तसिंह और विजयपाल हुए। विजयपाल के पुत्र हरराय के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि बम्बावदा के चौहान शासक हाडा चौहान कहलाये। इन्हीं हाडा चौहानों ने बून्दी पर अधिकार कर लिया। बून्दी पर अधिकार करने वाला देवा था जिसने

---

[1] मुहणोत नैणसी ने बून्दी के राजवंश को नाडोल के चौहान कीर्तिपाल का वंशज बतलाया है (नैणसी की ख्यात भाग 1 पृ० 104)।

वि०सं०1428(ई०सन् 1371) में बन्दु घाटी का क्षेत्र मीणा शासकों से जीत कर उस क्षेत्र में अपना राज्य स्थापित किया। यही क्षेत्र वाद में बून्दी-राज्य कहलाया। इसी राज्य में से वाद में वि० सं० 1681 (ई०सन् 1624) में माधोसिंह ने कोटा-राज्य अलग से स्थापित किया।

शाकम्भरी के तृतीय पृथ्वीराज चौहान के वंशजों ने रणथम्भोर में अपना राज्य स्थापित किया। चौहानों की एक दूसरी शाखा ने धवलपुरी (धोलपुर), व एक शाखा ने प्रतापगढ़ में भी राज्य स्थापित किया।

वर्तमान चौहान राज्यों में बून्दी, कोटा व सिरोही के राज्य हैं।

चौहानों की कुल 24 शाखायें हैं–सोनगरा,खीची,देवड़ा,हाड़ा,मोहिल, चाहिल, नोड़ा, निर्वाण, ढीमडिया, राकसिया, वोलत, म्हालण. चीबा, वंटक, गोलासणा, कापलिया, गीला, सेलोत, बैस, नहरवण, डेडरिया, बेहल, सेपटा, हुरड़ा और बगसरिया।

॥

कछवाहा राजवंश

कछवाह अपने को भगवान रामचन्द्र के ज्येष्ठ पुत्र कुश के वंशधर मानते हैं। बोलचाल में इनका नाम कछवाहा और कछावा या कछवा प्रसिद्ध है। यह नाम इनके एक पूर्वज के नाम से पड़ा है। कुछ विद्वानों का मत इस विषय में भिन्न है। ग्वालियर और नरवर के पुराने कछवाहे

राजाओं के मिले कुछ संस्कृत शिलालेखों में उन्हें कच्छपघात या कच्छपारि वंश का लिखा है।[1] जर्नल कनिंघम का अनुमान है कि कच्छपघात और कच्छपहन का अर्थ एक ही है। अतः कच्छपहन ही से प्राकृत में कछवाहन और फिर आम बोलचाल में कछवाहा हो गया है।[2] कर्नल टॉड ने अपने राजस्थान के इतिहास में लिखा है कि कुश की औलाद में होने से कुशवाहा कहलाये। उसका बिगड़ कर कछवाहा हो गया।[3] बेडन पावल ने लिखा है कि "कछवाहे दरअसल विन्ध्याचल के पहाड़ी हिस्से से आये हुये हैं, वे आमेर में ताकतवर हुये। कुश के साथ इनका कोई सम्बन्ध मालूम नहीं पड़ता है क्योंकि पुराने लेखों में उनको कच्छपघात या कच्छपघारि लिखा है।" कुछ लेखकों का यह भी खयाल है कि कछवाहों की कुलदेवी का नाम पहले कछवाही (कच्छपवाहिनी) था उसीके नाम से वे कछवाहे प्रसिद्ध हुए। रायबहादुर ठाकुर महाराजसिंह ने लिखा है कि "रामचन्द्र से 19वीं पीढ़ी के बाद कूरम नाम एक राजा हुए जो मन्दसोर में रहे। उनके वंश में एक सोगमे नाम के राजा हुये और वह कच्छ में चले गये। वहीं रहने से "कच्छ वाले" ऐसा कहने लगे। यही शब्द बिगड़ कर "कच्छवाहा" हो गया। मास्टर रामनाथ रत्नु चारण का कथन है कि "कछवाहा नाम राजा कत्सवाध से पड़ा है जो कुश से बहुत पीछे हुए। कत्सवाध के पिता का नाम कूर्मजी था जिनके नाम से कछवाहा लोग "कुर्मा" व "कुर्म" भी कहलाते हैं।" यही मत बून्दी राज्य के महाकवि चारण सूर्य्यमल मिश्रण का है जो उन्होंने अपने "वंश भास्कर" काव्य ग्रन्थ के द्वितीय विभाग में इस तरह प्रकट किया है:—

इत सुमित्र साकेत नृप तज्यो जोग बल देह।
विश्वराज कूरम प्रमुख, हुव वहु सुत गेह॥
कूर्म विश्ववर को अनूज, जासों कूरम वंश।
वजि है सुहि कछवाह वलि, याके सुत के अंश॥
कत्सवाध हुव कूर्म के, तासों कुल वंश।

---

[1] I. A. Vol. 14. pp. 10, Epi. Indica Vol., 2. pp. 23
[2] Arch. Sur. of India Report, Part IV. pp. 27-51.
[3] राज रत्नाकर, भाग 1 तरंग 1 पृ० 96 (सन् 1909 ई०)

कई विद्वानों ने कछवाहों के निवास स्थान "नरवर" (ग्वालियर राज्य) को निषादों की भूमि मानकर उनको अछूत-अस्पृश्य लिख दिया है जैसा कि बंगाल ऐशियाटिक सोसाइटी के वाइस प्रेसिडेन्ट महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री एम० ए०, सी० आई० ई० कलकत्ता ने अपनी रिपोर्ट (सन् 1923) के पृष्ठ 24 पर लिखा है:—

"They came from Narvar, but Narvar is the country inhabitated by hunters (Nishadha) and anciently there was a race called Kachhapghata, who are probably represented by modern Kachhavas in the neighbourhood. The modern Kachhavas are an untouchable race, but their rulers seem to have become Ksattriyas at some period."

इस वंश के विषय में राजपूताने के प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का कहना है कि:—

इस वंश का नाम लोगों में कछवाहा, कछवा, कछावा प्रसिद्ध है और संस्कृत लेखों में "कच्छपघात" या "कच्छपारि" लिखा मिलता है। "कच्छपघात" का अर्थ कछुओं का मारना" और "कच्छपारि" का अर्थ कछुओं का शत्रु है। कछुओं को मारना राजपूतों के लिए कोई गौरव की बात नहीं है। हमारा अनुमान है कि उक्त वश के किसी पुरुष का नाम से "कछवाहा" या कछवाहा होगा (जिसके नाम से उक्त वंश का नाम पड़ा हो) जिसको संस्कृत की शैली का बनाने के लिये पंडितों ने कच्छपघात कर दिया हो टाड साहब ने उसका शुद्ध रूप "कुशवाहा" माना है, परन्तु कछवाहों के प्राचीन लेखों में कहीं इसका प्रयोग नही मिलता।"

उपरोक्त ओझाजी को सम्मति हमारे विचार से अधिक युक्तिसंगत है और यह कछवाहा नाम किसी पूर्वज के नाम पर से ही प्रचलित होना सिद्ध होता है।

कहते हैं कि जब राजा शिशुनाग[1] ने कछवाहों से अयोध्या का राज्य छीन लिया तब वे लोग अयोध्या से उठ कर बिहार में सोन नदी के किनारे रोहतास में जा बसे और कुछ के कथानुसार इन्होंने रोहतासगढ़ नाम का

---

[1] स्मिथ ने इसका समय वि० सं० से 585 (ई० सन् 642) वर्ष पूर्व अनुमान किया है।

किला बनाया।[1] कालान्तर में उनकी एक शाखा ने वहाँ से धीरे-धीरे बढ कर मालवा में जाकर नरवर का प्रसिद्ध गढ़ बनाया। इस नरवर का प्राचीन नाम निषाध रहा। नागवंशी राजाओं की पुराण प्रसिद्ध पद्मावती नगरी भी यही थी। महाराजा नल के नाम से इसको नलपुर भी बोलते रहे हैं, परन्तु यह इन सब नामों के होते हुए भी नरवर नाम से अधिक विख्यात हुआ। सम्भव है कि भले पुरुषों की बस्ती होने पर इसका दूसरा नाम पड़ा हो।

विद्वानों का अनुमान है कि कछवाहे नरवर की तरफ ईसा की आठवीं सदी में आये हों और वहीं से ग्वालियर को गये हों। नरवर के यह कछवाहे पहले कन्नोज के पड़िहारों (प्रतिहारों) के अधीन थे जिनका राज्य ग्यारहवीं शताब्दी में कमजोर होने पर ये ग्वालियर में राजा बन गये। ग्वालियर (मध्य भारत) वि० स० 1034 (ई० सन् 977) का एक शिलालेख मिला है, जिससे पाया जाता है कि उस समय वहां पर लक्ष्मण का पुत्र वज्रदामा नामक कछवाहा राजा राज्य करता था।[2] वज्रदामा ने कन्नोज के परिहार राजा विजयपाल से गोपाद्रि (ग्वालियर) का किला छीना था वज्रदामा के पुत्र मंगलराज के दो पुत्र से दो शाखाएँ चली। इसमें से बड़े बेटे कीर्तिराज के वंशधर तो कुतुबुद्दीन ऐबक के समय (वि० सं० 1253) तक ग्वालियर के राजा बने रहे और छोटे पुत्र सुमित्र के वंश में क्रमशः मधुब्रह्म, कहान, देवानीक और ईशासिंह (ईश्वरीसिंह) हुए। ईशासिंह के बाद सोढ़देव हुए। सोढदेव के पुत्र दुलहराय (दुर्लभराज-

---

[1] रोहतासगढ़ का किला, शाहाबाद जिले में, सोन नदी के बायें तट पर एक पहाड़ी पर बना हुआ है। इसका घेरा 14 कोस का रहा, और एक समय उसमें 14 द्वार थे जिनमें दस चुन दिये गये हैं। चारों ओर गहरी खाई और 83 निकास रहे। किले में कई तालाब और बारहमासी झरने थे। सं० 1596 में धोखे से बादशाह शेरशाह ने इसे हिन्दू राजा से छीन कर अपना अधिकार किया और उसे सुदृढ बनाना चाहा, परन्तु ऐसा न कर पाया। कुछ लोगों का कहना है कि यह किला कुश के वंशजों ने, फिर कुछ राजा हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहिताश्व ने बनवाया, परन्तु फारसी इतिहास लेखक फरिश्ता ने लिखा है कि तुर्कस्थान के बादशाह अफरा के वाइसराय राहतशिया ने उसे बनाया (Gazetteer of the territory of the East India company, etc. Vol IV. by Thornton).

[2] J. A. S. B, Vol. 31. Page 313.

ढोलाराव)[1] ग्वालियर से आकर पहले तो दौसा (अब जयपुर राज्य में) के बड़गूजर राजा के यहाँ ब्याहा और उन्हीं के राज्य को प्राप्त कर वि० सं० 1194 (ई० सन् 1137) में एक नवीन राज्य की स्थापना की। यही राज्य आगे चलकर जयपुर राज्य कहलाया। दुलहराय ने अपने पिता को भी दौसा बुला लिया और राज्य का भार उन्हीं के हाथों मे सौंप दिया। दौसा बहुत ही छोटा था अतएव राजा सोढ़देव और उनके पुत्र दुलहराय ने और कुछ प्रदेश जीतना चाहा। दौसा के आस पास जो इलाका था वह उस समय "ढून्ढार"[2] कहलाता था और वह मीना तथा राजपूतों के अधिकार में था। दुलहराय ने पहले मीणा लोगों के स्थान मांची पर और फिर राजपूतों पर चढ़ाई कर वह प्रदेश अपने कब्जे में किया। दुलहराय के विकलदेव और काकिलदेव दो पुत्र थे। जिनमें से ज्येष्ठ पुत्र विकलदेव के वंश में कछवाहा धार (ग्वालियर राज्य) के राजा लहार, बोहारा, रामपुर. ककसीस, मचंड, गोपालपुरा, कोल्हार, रावलुहारी तथा रहावली आदि दूसरे जागीरदार हैं।

राजा काकिलदेव ढूँढार के राज-सिंहासन पर बैठा और वि०सं०1207 में मीणा लोगों से आमेर का किला जीत कर उसे अपनी राजधानी बनाई। काकिलदेव के ग्यारहवें वंशधर राजा उदयकरण के पीछे उसका ज्येष्ठ पुत्र नरसिंह आमेर का स्वामी हुआ और द्वितीय पुत्र वरसिंह के पौत्र नरू से नरूका अलग शाखा चली और तृतीय पुत्र वालूजी के पौत्र शेखा से कछवाहों की शेखावत शाखा प्रसिद्ध हुई। शेखा का पिता मोकल आमेर के राजा को वर्ष भर में अपनी जागीर में पैदा हुए वछड़े खिराज में दिया करता था। परन्तु शेखाजी ने यह खिराज देना वन्द करके आमेर की मातहती का जुवा अपने कन्धे पर से हटा दिया और अपने वाहुवल से अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। यह इलाका वाद में शेखावटी नाम से प्रसिद्ध

---

1 यह अपनी मारू या मारवण रानी के कारण विशेष प्रसिद्ध है। कहते हैं कि एक बार यह अपनी रानी मारवण (मारवाड़ में स्थित पूङ्गल के भाटी राजा की पुत्री) सहित देवी के दर्शन को जाता हुआ मार्ग में मीणों से युद्ध करते मारा गया। रानी को गर्भ था जिससे काकल उत्पन्न हुआ। पर यह कथा कल्पित प्रतीत होती है।

2 कहते हैं कि प्राचीन काल में यह ढूंढ नाम के दैत्य का निवास स्थान होने से ढूंढार प्रसिद्ध हुआ। ढूंढार का कुछ अंश अब अलवर राज्य में और कुछ जयपुर राज्य के शेखावाटी में आ गया है।

हुआ। लगभग सवा तीन सौ वर्ष तक उसके वंशधर स्वतन्त्र रहे और वे खूब बढे परन्तु पीछे से परस्पर की फूट से आमेर (जयपुर) नरेश महाराजा सवाई जयसिंह दूसरे ने इन्हें अपने मातहत कर लिया और इनको कमजोर करने के लिये, खेतड़ी और सीकर के सिवाय शेखावतों के सब ठिकानों के लिये यह नियम बना दिया कि एक सरदार के जितने पुत्र हों वे सब अपने पिता की जागीर का बराबर हिस्सा कर लें। इस प्रकार शेखावतों की जागीर अनेक विभागों में बँट गई और वे शक्तिहीन हो गये।

वि० सं० 1618 में आमेर नरेश राजा भारमल (बिहारीमल) ने दिल्ली के बादशाह अकबर का आधिपत्य स्वीकार किया। राजपूताने में यही पहिले राजा थे जिन्होंने मुसलमान को कर देना शुरू किया और वि० सं० 1618 में अपनी ज्येष्ठ पुत्री हरखा का विवाह अकबर के साथ सांभर स्थान पर कर दिया। इसका उत्तराधिकारी राजा भगवानदास अकबर का बड़ा मर्जीदान था। भगवानदास के उत्तराधिकारी मिर्जा राजा मानसिंह ने मुगल सम्राज्य के लिये काबुल, उड़ीसा और आसाम विजय किये थे और वि० सं० 1652 में अपना विवाह कूच बिहार के राजा लक्ष्मीनारायण की बहिन के साथ किया। राजा मानसिंह के छठे उत्तराधिकारी सवाई राजा जयसिंह दूसरे ने 25 नवम्बर 1727 शनिवार को जयपुर नगर की नींव रख कर अपनी राजधानी आमेर से जयपुर ले गये। तब से राज्य का नाम व राजधानी जयपुर प्रसिद्ध है और उनके वंशज अभी तक राज्य करते हैं।

इस समय निम्नलिखित नृपतिगण कछवाहा राजवंश से कहे जाते हैं:—

राजपूताने में—जयपुर, अलवर,[1] लावा।

---

[1] अलवर के महाराजा इसी शाखा से हैं। इस राज्य के मूल पुरुष कल्याणसिंह नरूका को जयपुर से माचेड़ी आदि ढ ई गांव जागीर में मिले थे। बाद में सं० 1827 में सम्राट शाहआलम ने इनके वंशज प्रतापसिंह को रावराजा की पदवी, पाँच हजारी मनसब और माहीमरातिब देकर माचेड़ी गांव की सनद कर दी जिससे वे जयपुर राज्य से स्वतन्त्र हो गये और सं० 1830 में अलवर पर कब्जा कर उसे अपनी राजधानी बना ली।

पंजाब—कश्मीर,[1] पूंच्छ।

उड़ीसा में—मोरभंज, ढेकनाल, नीलगिरी, बऊद और केओंझर।

मालवा—महियर।

संयुक्त-प्रान्त में—अमेठी तालुकेदारी।

—

12

झाला राजवंश

झाला राजवंश का मूल-पुरुष कौन था, यह निश्चय नहीं है। कहा जाता है कि झाला राजपूतों का राज्य पहले सिन्ध पारकर नगर के पास कीर्तिगढ़ में था। वहां के प्रथम राणा व्यास देव मकवाणा का पुत्र केसर

---

[1] कश्मीर के जमवाल (डोगरा) राजवंश को राजपूताने के राजपूत अपनी जाति में नहीं मानते थे। यद्यपि उनको शामिल करने की चर्चा 25–30 वर्ष से चल रही थी। स्वामी ज्ञानानन्द (काशी) के परामर्श से स्वर्गीय किशनगढ़ नरेश महाराजा सर मदनसिंहजी ने इस काम को अपने हाथ में लिया और कश्मीर के राजपूतों को राजपूताने के राजपूतों में शामिल करने के लिए किशनगढ़ नरेश के काका महाराजा रघुनाथसिंह, सैलाना राज्य के प्रतिनिधि ठा० भगवन्तसिंह, वनेड़े के कुंवर अखैसिंह और खरवा (अजमेर) के देशभक्त ठाकुर गोपालसिंह राष्ट्रवर वि०सं० 1959 में कश्मीर गये और उनके साथ खान-पान करके वहाँ के राजपूतों को जाति में शामिल किया। पश्चात् ई० सन् 1921 की 3 दिसम्बर को स्वर्गीय महाराजा सवाई माधोसिंह ने कश्मीर राजवंश को कछवाहा बनाने की कार्यवाही की और काश्मीर नरेश प्रतापसिंह कछवाहा को जयपुर बुलाकर उसके साथ खान-पान में शामिल हुए। विशेष हेतु देखिए, "राजस्थान के छत्तीस राजवंश"।

देव था जो सिन्ध नरेश हम्मीर सूमरा से लड़ता हुआ मारा गया। उसका पुत्र हरपाल गुजरात के बघेल नरेश कर्णदेव (ई० सन् 1286-1300) के यहां जा रहा। वहां उसे कुछ गांव जागीर में मिल गये और वह पाटड़ी में रहने लगा। एक दिन पाटड़ी में, एक मस्त हाथी की चपेट में हरपाल के तीन पुत्र आ गये लेकिन उनकी माता ने उन्हें झाल में उठाकर बचा लिया। तब से ये पुत्र झाला कहलाने लगे और इसी से इनके वंशज अब झाला कहलाते हैं। इसमें कितनी सत्यता है, कुछ कहा नहीं जा सकता है ?

झाला राजपूत अपने को सूर्यवंशी बतलाते हैं लेकिन पन्द्रहवीं शताब्दी में गङ्गधार रचित "मंडवोक चरित" काव्य के कुछ सर्गों में इनको चन्द्रवंशी लिखा गया है। यों ये मकवाणा खांप के हैं।

हरपाल के तीन पुत्र—सोढदेव, मांगदेव तथा सौढदेव थे। सोढदेव पाटड़ी की गद्दी पर बैठा। मांगदेव आबू में जा रहा जिसके वंशज अब लिम्बड़ी में हैं। सौढदेव के वंशज सचाणा और चोर वड़ोदरा में हैं।

सौढदेव के एक वंशधर जैतसिंह को गुजरात के सुल्तान महमूदशाह बेगड़ा (ई० सन् 1458-1511) ने पाटड़ी से निकाल दिया तब वह कुआ में जा रहा। जैतसिंह के एक वंशधर राजधर ने वि० सं० 1544 (ई०सन् 1488) को हलवद नगर (काठियावाड़)[1] बसाकर वहां अपनी राजधानी स्थापित की। राजधर के तीन पुत्र—अज्जा, सज्जा और राणू थे। वि० सं०1556 (ई० सन् 1500) में राजधर की मृत्यु हो जाने पर जब उसके पुत्र अज्जा और सज्जा उसका दाह संस्कार करने में लगे हुए थे तब ही उनका छोटा भाई राणू राजगद्दी पर बैठ गया और बाद में उसने गुजरात के सुल्तान को अपना सहायक बना लिया। इससे अज्जा व सज्जा हलवद को छोड़कर, कुछ समय तक मारवाड़ में रहकर ई० सन् 1506 में चित्तौड़ में जा रहे। अज्जा झाला ई० सन् 1527 को मार्च 16 की खानुवा के युद्ध-स्थल पर महाराणा सांगा की ओर से बाबर की सेना से लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ। उसके वंशज सादड़ी (मेवाड़-राज्य) के जागीरदार हैं। सज्जा गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह (ई० सन् 1526-1536) के चित्तौड़ पर आक्रमण के वक्त ई० सन् 1535 के मार्च माह में मारा गया। उसके वंशधर मेवाड़ राज्य में गोगून्दा व देलवाड़ा के जागीरदार हैं।

---

1 हलवद पहले ध्रागन्ध्रा राज्य की राजधानी था।

राणू के प्रपौत्र चन्द्रसिंह के पृथ्वीराज आदि बारह पुत्र थे। पृथ्वीराज अपने पिता के जीवनकाल में ही मर गया। अतः उसका पुत्र आसकरण हलवद की गद्दी पर बैठा। पृथ्वीराज के दो पुत्र—सुलतान और राजदेव में से सुलतान ने वांकानेर पर कब्जा किया और राजदेव ने बढवान में अपना ठिकाना स्थापित किया। राजदेव के तीन पुत्र—सबलसिंह, उदयसिंह और भावसिंह थे। राजदेव का स्वर्गवास वि० सं० 1700 (ई० सन् 1645) में बढवान में हुआ।

राजदेव का तीसरा पुत्र भावसिंह अपनी जीविका हेतु तथा भाग्य आजमाने के लिये वि० सं० 1765 (ई० सन् 1708) के लगभग[1] कोटा के भीमसिंह हाड़ा (ई० सन् 1707-1720) के पास गया। भीमसिंह उस वक्त वीर राजपूतों को इकट्ठा कर रहा था ताकि वह मुगल दरबार में अपनी शक्ति प्रदर्शित कर सके। अतः भावसिंह ने अपने पुत्र माधवसिंह को, कोटा महाराव की सेना में नियुक्ति करा दी तथा स्वयं महाराव के साथ दिल्ली चला गया।

माधवसिंह ने कोटा में रहते, अपनी चतुराई व शौर्य का प्रदर्शन कर, महाराव को प्रसन्न कर लिया और उसका विश्वासपात्र बन गया। कोटा के युवराज अर्जुनसिंह के साथ शीघ्र ही माधवसिंह की बहन का विवाह हो गया।[2] इससे माधवसिंह की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई और वह फौजदार के पद पर नियुक्त कर दिया गया। उसको बारह हजार वार्षिक आय की नानता की जागीर भी दे दी गई। तबसे माधवसिंह झाला और उसका पुत्र मदनसिंह कोटा में "मामा" कहलाने लगे। बाद में फौजदार का पद इनका वंशपरम्परागत हो गया।

मदनसिंह के पुत्र हिम्मतसिंह ने जयपुर और कोटा के बीच हुए युद्ध में मरहठों से सहायता लेकर जयपुर की सेना को हराया था। इससे इसका कोटा राज्य में प्रभाव और ज्यादा बढ गया। निसंतान होने कारण इसने अपने भाई पृथ्वीसिंह के पुत्र जालिमसिंह को गोद लिया। हिम्मतसिंह का

---

1 'तवारीख-ए-झालावाड़' के अनुसार ठाकुर झाला मानसिंह व कुंवर माधोसिंह गुजरात से वि० सं० 1738 में आये (पृष्ठ 4)।

2 गजेटियर ऑफ झालावाड़, पृष्ठ 189 व कर्नल टॉड कृत राजस्थान, जिल्द 3 पृष्ठ 1528।

वि० सं० 1818 (ई० सन् 1761) में स्वर्गवास हो जाने पर जालमसिंह कोटा का फौजदार नियुक्त हुआ।

राजपूताने के तत्कालीन शूरवीर, साहसी और राजनीतिज्ञ सरदारों में जालिमसिंह का नाम सबसे ज्यादा प्रसिद्ध है। कर्नल टॉड के अनुसार वह राजस्थान का मिचवेली और डोमी मेजर था।

वि० सं० 1818 की आश्विन सुदि 4 (ई० सन् 1761 की नवम्बर 30) को भटवाड़ा के युद्ध जो जयपुर नरेश माधोसिंह व शत्रुसाल के बीच लड़ा गया था, झालिमसिंह ने अपूर्व वीरता व साहस का परिचय दिया। उस वक्त कोटा के पास 15,000 तथा जयपुर के पास 60,000 सैनिक थे लेकिन झालिमसिंह ने मल्हारराव होल्कर से सहायता लेकर जयपुर की सेना को पूर्णतया पराजित किया। तब से वह राजपूताना में चमक उठा। इस विजय का सब श्रेय जालिमसिंह को ही दिया जाता है। उसकी कीर्ति सर्वत्र गीतों में गाई जाने लगी।

जालिमसिंह की एक बहन गुमानसिंह को व्याही थी। गुमानसिंह वि० सं० 1821 (ई० सन् 1764) में शत्रुसाल हाडा की मृत्यु के बाद कोटा की राजगद्दी पर बैठा लेकिन शीघ्र ही साला और बहनोई के बीच, दोनों के एक दरोगन (गोलण) पर आसक्त हो जाने के कारण, झगड़ा हो गया। इस पर महाराव ने उसकी जागीर व पद छीन लिया। फलस्वरूप जालिमसिंह कोटा से उदयपुर चला गया।

उदयपुर का महाराणा अरिसिंह उस वक्त देलवाड़ा जागीरदार राघोदेव के प्रभाव में था क्योंकि उसीने उसे राजगद्दी दिलाई थी। महाराणा अब राघोदेव के प्रभाव को समाप्त करना चाहता था। उसने जालिमसिंह से सहायता मांगी। जालिमसिंह ने शीघ्र ही अपनी कूटनीति से राघोदेव को मरवा डाला। इस प्रकार इन दोनों ने अपने उपकार करने वाले को ही "पुरस्कृत" कर दिया। महाराणा ने जालिमसिंह को "राजराणा" की पदवी दी तथा "चितारवड़े" की जागीर देकर उसे द्वितीय श्रेणी का जागीरदार बना दिया।

वि० सं० 1825 (ई० सन् 1769) में महाराणा राजसिंह (द्वितीय) का पुत्र रतनसिंह, जो उदयपुर की राजगद्दी के लिये दावा कर रहा था, माधवराव सिन्धिया को मेवाड़ पर चढा लाया। तब जालिमसिंह को

उनका सामना करने को भेजा गया। इस युद्ध में मेवाड़ी सेना जीतने को ही थी कि जयपुर से 15,000 नागों की सेना आ गई, अतः मेवाड़ की सेना हार गई। जालिमसिंह कैद कर लिया गया लेकिन बाद में 60,000 रुपये देने पर छोड़ दिया गया। इन्हीं दिनों कोटा के दक्षिणी भाग में मरहटे बढ रहे थे इसलिये कोटा महाराव ने जालिमसिंह को पूर्ण अधिकार देकर मरहठों के विरुद्ध भेजा। उसने शीघ्र ही 6 लाख रुपये मल्हारराव को देकर सन्धि करली। महाराव ने इस कारण जालिमसिंह को वापस नानता की जागीर और फौजदार का पद दे दिया। ई० सन् 1771 में महाराव ने अपनी मृत्यु के समय जालिमसिंह को अपने अव्यस्क युवराज उम्मेदसिंह का अभिभावक नियुक्त कर दिया। अब वह कोटा का सर्वेसर्वा हो गया। उम्मेदसिंह के राज्यकाल (ई० सन् 1771-1780) में उसने कई प्रशासनिक सुधार किये तथा राज्य की आमदनी चार लाख से 40 लाख तक बढाई। प्रजा पर कई प्रकार के कर लगाये जिनके कारण वह राज्य में काफी अप्रिय हो गया लेकिन उसने कोई पर्वाह नहीं की। उसने मरहठों और पिण्डारियों की चालाकी तथा धाक से कोटा को उनसे दूर ही रक्खा। उस वक्त कोटा की सेना में 20,000 पैदल, 1000 घुड़सवार तथा 100 तोपें थी।

जालिमसिंह ने अपनी दूरदर्शिता से अंग्रेजों को भी अपना बनाये रखा। ई० सन् 1801 में जब अंग्रेजों ने जसवन्तराव होल्कर पर चढ़ाई की तब इसने दोनों पक्षों को प्रसन्न रखा। इसी के प्रयत्नों से ई०सन् 1817 की 26 दिसम्बर को अंग्रेजों व कोटा राज्य के बीच आपसी मित्रता व सहायता की सन्धि हो गई। इसके तीन मास बाद ही ई० सन् 1818 की 20 फरवरी को ई० सन् 1818 की सन्धि में दो शर्तें और जोड़ी गईं कि जालिमसिंह की वंश परम्परा में से ही किसी को कोटा के प्रधानमन्त्री का पद दिया जावेगा और अंग्रेज सरकार उसकी जामीन रहेगी। यह शर्त आगे चलकर एक बड़े विवाद का कारण बनी। इस तरह राजपूताना में झालावाड़ राज्य की स्थापना हुई।

महाराव उम्मेदसिंह की मृत्यु के बाद किशोरसिंह कोटा की राजगद्दी पर बैठा। उसकी जालिमसिंह से बिल्कुल नहीं बनी। जालिमसिंह उस वक्त तक अत्यन्त शक्तिशाली हो गया था। ई० सन् 1820 में महाराव को स्वयं कोटा छोड़कर बुन्दी जाना पड़ा। बाद में वह दिल्ली जाकर अंग्रेज अधिकारियों से मिला लेकिन उसे कोई सहायता उनसे नहीं मिली।

अन्त में महाराव ने सेना इकट्ठी कर जालिमसिह से युद्ध किया लेकिन मांगरोल के युद्ध में (ई० सन् 1820 की अक्टूबर 1को) वह जालिमसिह की सेना से हार गया। इस वक्त अंग्रेज एजेन्ट कर्नल टॉड (प्रसिद्ध इतिहासज्ञ) ने जालिमसिह का ही पक्ष लिया। महाराव हारकर नाथद्वारा चला गया और कोटा राज्य को श्रीनाथजी के नाम अर्पण कर दिया। वाद मे नवम्वर 22 को उदयपुर के महाराजा भीमसिह की सिफारिश से कर्नल टॉड ने महाराव का जालिमसिह के साथ समझौता करा दिया। तव महाराव कोटा लौट आया।

ई० सन् 1824 में जालिमसिह की मृत्यु हो जाने पर उसका पुत्र माधोसिह कोटा का फौजदार वना। अपने पिता के जीवनकाल में ही, उसकी वृद्धावस्था के कारण, माधोसिह राज्य शासन में मुसाहिव का काम करता था। अव महाराव ने मुसाहिव माधोसिह के चंगुल से निकलना चाहा लेकिन वह सफल नही हो सका। ई० सन् 1827 मे महाराव किशोरसिह की मृत्यु हो गई और रामसिह राजगद्दी पर वैठा। ई० सन् 1834 में लगभग दस वर्ष तक मुसाहिव रहने के वाद, माधोसिह की भी मृत्यु हो गई और तव उसका पुत्र मदनसिह मुसाहिब वना। इसकी भी महाराव से वरावर अनवन ही रही। अन्त में दोनों के वीच विवाद इतना वढ गया कि कोटा में विद्रोह फैलने की आशंका हो गई। यह देखकर अंग्रेज सरकार ने दोनों के वीच में पड़कर मदनसिंह को एक नया राज्य दिया जो उन परगनों का वना था जो झाला ने अपनी कूटनीति से कोटा राज्य में मिलाये थे। इन परगनों को पुनः कोटा राज्य से अलग करके, उन पर मदनसिंह शासक वनाया। ई० सन् 1838 की अप्रेल 8 को लगभग 12 लाख रुपये वार्षिक आय के 17 परगने कोटा राज्य से अलग किये गये। इस नये राज्य का नाम इसके शासक झाला राजवंश के होने से झालावाड़ रखा गया। मदनसिह को "महाराजराणा" की पदवी तथा 15 तोपों की सलामी का अधिकार दिया गया। वाद में ई० सन् 1896 में इस राज्य के प्रशासन में गड़वड़ देखकर यहां के नरेश द्वितीय जालिमसिंह को अंग्रेजों ने राजगद्दी से हटा दिया लेकिन वाद में जव भवानीसिंह को ई० सन् 1899 में राजगद्दी पर वैठाया गया तव चौमहला, झालरापाटन व मुकेन परगने के दक्षिणी भाग के अलावा अन्य परगने वापस कोटा राज्य को दे दिये गये। इस प्रकार अव झालावाड़ राज्य केवल 810 वर्गमील भूमि का ही रह गया है। झाला राजवंश का यह एकमात्र राज्य है।

——

जाट राजवंश

भारत के छत्तीस राजवंशों में जाट-राजवंश भी आता है। राजवंशों में होते हुए भी यह कहीं भी राजपूत नहीं बताया गया है।[1] इबरसन, जाटों व राजपूतों की भिन्नता केवल रीतिरिवाजों की बतलाता है न कि जातियता की। उसके अनुसार राजपूत कुछ परिस्थितियों के कारण राजनैतिक महत्व पा गये और राजवंशों में आ गये।[2] वेडन पॉवेल इन्हें राजपूतों से अलग बतलाता है। उसके विचार से राजपूत जाटों से पहले भारत में आये और मूलत: भिन्न हैं। इनका प्रारम्भ से ही आपस में झगड़ा था और ऐसा कोई उदाहरण नहीं है कि कोई जाट राजपूत बन गया हो।[3] वास्तव में जाट व राजपूत प्राचीन क्षत्रिय हैं जो बाद में सामाजिक रीति-रिवाजों व परिस्थिवश अलग अलग हो गये।

जाट आर्य हैं या आर्यों के बाद भारत में आने वाली शक, यूची आदि जातियों में से हैं? इस पर भी एक विवाद छिड़ा हुआ है। इबरसन, कनिंघम व टॉड इन्हें शक मानते हैं। स्मिथ ने लिखा है कि जाट शकों व हुणों के वंशज हैं। इनमें से जो सैनिक बने रहे व राजवंश स्थापित कर सके वे राजपूत कहलाये।[4] इलियट, जैक्सन[5] व केम्पबैल[6] इन्हें यूची जाति का मानते हैं। वास्तव में ये प्राचीन आर्य क्षत्रियों के वंशज ही हैं। नेसफिल्ड व मिलर जाटों को आर्य वंश का बतलाते हैं। नेसफिल्ड ने

---

[1] राजस्थान, भाग 1 पृ० 127।

[2] सेन्सस ऑफ पंजाब (1916) पृ० 421–422।

[3] इण्डीयन विलेज कम्युनिटी (1896) पृ० 100-101।

[4] जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी (1899) पृ० 534।

[5] मेमोयर्स ऑफ रेसेज, भाग 1 पृ० 135।

[6] बॉम्बे गजेटियर्स, जिल्द 1, पृ० 2।

लिखा है कि यदि सुरत शक्ल कुछ समझे जाने वाली चीज है तो जाट सिवाय आर्यों के कुछ और नहीं हो सकते हैं।[1] हैवेल ने इन्हें लम्बे कद, सुन्दर चेहरा, पतली लम्बी नाक, चौड़े कन्धे, लम्बी भुजाओं, शेर की सी कमर और हिरन की सी पतली टांगों के कारण आर्य जाति का कहा है।[2] चिन्तामणी वैद्य ने लिखा है कि जाट हुणों के सम्बन्धी नहीं किन्तु शत्रु थे। ज टों ने हुणों का सामना किया और उनको परास्त किया। वे सुन्दर, लम्बी और वड़ी नाक वाले हैं।[3] इलियट इनकी बोली व शारीरिक गठन से इन्हें आर्यों का ही वंशज वतलाता है। अतः जाट अपनी लम्बाई, गोरेपन, नुकीली नाक तथा वड़ी आंखों के कारण राजपूतों की भांति ही आर्य वंश के प्रतीत होते हैं। यदि राजपूत अपनी वीरता व साहस के लिये प्रसिद्ध रहे हैं तो ये उनसे किसी भी भांति कम नहीं रहे हैं। ऐसी दशा में इन्हें राजपूतों की भांति प्राचीन आर्य क्षत्रियों में से ही माना जाना चाहिये जिन्होंने परिस्थितिवश काश्त का धन्धा अपना लिया और साथ ही आवश्यकता पड़ने पर सैनिक बनने में भी कभी किसी से पीछे नहीं रहे।

इस जाति का नाम जाट कैसे पड़ा, इस विषय में देशराज ने लिखा है कि जाट शब्द, संस्कृत शब्द "ज्ञात" से जात अथवा जाट शब्द बना। उनके विचार से यदुवंशी कृष्ण ने जाति संघ की स्थापना की थी जो व्यक्ति-प्रधान न होकर जाति-प्रधान होता था। ये जातिवादी ज्ञात, जात अथवा जाट नाम से प्रसिद्ध हुए, जिस प्रकार की कांग्रेस वाले कांग्रेसी, अर्यसमाज वाले समाजी, विष्णु के उपासक वैष्णव, शिव के अनुयायी शैव, शक्तियों में विश्वास करने वाले शाक्त कहलाते हैं। देवसंहिता में लिखा है कि महादेव की जटा से वीरभद्र नामक गण उत्पन्न हुआ जिसके वंशधर जाट कहलाये।[6] नेसफिल्ड ने इनको यदु-वंश में जिसमें कृष्ण का

---

1 सेन्सस रिपोर्ट, 1901 पृ० 500।

2 द हिस्ट्री ऑफ आर्यन रूल इन इण्डिया, पृ० 32।

3 हिस्ट्री ऑफ मिडीवियल हिन्दू इण्डिया, पृ० 87-88।

4 मेमोयर्स ऑफ द रेसेज, जिल्द 1 पृ० 135-137।

5 जाट इतिहास, पृ० 105-107।

6 देवसंहिता, श्लोक 16-17।

जन्म हुआ था वतलाया है। ग्रियर्सन[1] व जेम्स केम्पवेल[2] ने लिखा है कि महा-भारत में मद्रकों के साथ जाटतृकों का उल्लेख मिलता है।[3] अत: संभवत: जाट इनके ही वंशज हैं। विभिन्न लेखकों के उपरोक्त विचारों पर गौर करने से यह स्पष्ट है कि ज़ाट महाभारत कालीन किसी जाति से अवश्य सम्बन्धित थे। यह जाति आरम्भ से ही स्वतंत्रताप्रिय व जनन्त्र में विश्वास करती रही है और आज भी ज़ाटों में यह दोनों गुण मुख्य रूप से मिलते हैं। अत: सम्भवत: ये जाटतृकों के ही वंशधर हों ?

राजपूतों व जाटों में यदि विशेष रूप से भिन्नतायें मिलती हैं तो वह यह हैं कि जाटों में विधवा विवाह का होना, स्त्रियों में पर्दा-प्रथा का न-होना, उत्पादन एवं श्रम को महत्व देना, वर्गवाद में विश्वास नहीं करना तथा वंशानुगत अधिकारों में कम विश्वास करना आदि। राजपूतों में यह वातें उतनी मात्रा में नहीं मिलती हैं। इन्हीं कारणों से राजपूत व जाट आर्य क्षत्रियों में से होते हुए भी अलग अलग दिखाई पड़ते हैं। यों इनका शारीरिक गठन, सैनिक-सेवा, गौत्रों आदि की समानता राजपूतों जैसी ही है और वैसे ही गौत्र (गहलोत, दाहिमा, पंवार, सोलंकी, यादव, तंवर, मोर आदि) दोनों में मिलते हैं। वस्तुत: दोनों वंश एक ही लगते हैं। रोहतक जिले के जाट आज भी अपने को क्षत्रिय ही वतलाते हैं।

ज्यादातर जाट राजपूताना के पश्चिमी व उत्तर-पूर्वी भाग, पंजाब, के पश्चिमी भाग व दिल्ली में रहते हैं। यों वे सिन्ध व सौराष्ट में भी जट कहलाते हैं। जाटों में ज्यादातर हिन्दू व सिक्ख धर्मावलम्वी हैं लेकिन पंजाब में मुस्लिम भी काफी हैं। जाटों के मुख्य गौत्र है—पुनिया, वेनीवाल, लोहिया, आसायच, सारण, गौदारा, वागोर, मोहिल और खारीपट्टा।

कर्नल टॉड ने ई० सन् 440 में जाट या जिट राजवंश का उल्लेख किया है।[1] राजपूताने में जाटों के प्राचीन गणतंत्रात्मक राज्य जैसलमेर व वीकानेर में थे जिनको भाटियों ने जैसलमेर से व राठौड़ों ने वीकानेर से समाप्त कर दिया। मालवा व दिल्ली में भी इनके राज्य थे जिनको क्रमश: परमारों व तंवरों ने जीत लिये। जाटों ने महमूद गजनवी को ई० सन्

---

1 इण्डियन इपिग्राफिया, जिल्द 43- 46।

2 बॉम्वे गजेटियर, जिल्द 9 भाग 10 पृ० 461।

3 महाभारत, सर्ग 8 श्लोक 2032–2034।

4 टॉड कृत राजस्थान, जिल्द 1 पृ० 12।

1025 में सोमनाथ से लौटते वक्त काफी तंग किया था। अतः ई० सन् 1027 में वह जाटों को सजा देने के लिये भारत में पुनः आया। मुल्तान पहुँच कर उसने 1400 सैनिक नावें बनवाईं। प्रत्येक नाव में उसने तीन ओर झुके लोहे के नुकीले भाले लगवाये ताकि शत्रु की नावें उनसे टकराने पर टूट जावे। प्रत्येक नाव में 20 सैनिक तीर व कमान लेकर बिठाये गये। जाट भी युद्ध के लिये तैयार हो गये। उन्होंने अपनी स्त्रियों व बच्चों को सुरक्षित स्थानों पर भेज दिया और 4000 नावें तैयार कर गजनवी की सेना से भीड़ गये। सिन्धु नदी में घोर युद्ध हुआ लेकिन मुसलमानी नावों से टकराकर इनकी नावें टूट गईं। हजारों जाट डूब कर मर गये और जो बचे वे तीरों से बींध दिये गये। गजनवी ने बाद में जाट स्त्रियों व बच्चों पर भी हमला कर उन्हें मार डाला व उनके धनमाल को लूटकर गज़नी लौट गया। जाटों का इस कारण से उत्कर्ष रूक गया। मुहम्मद बिन तुगलक के राज्यकाल (1325-51) में भी पंजाब के जाटों ने बादशाह के विरूद्ध विद्रोह किया। अतः उनका कड़ाई से दमन किया गया व हजार से ऊपर जाटों को मुसलमान बनाया गया।

राजपूताने में जाटों का राजनैतिक उत्कर्ष औरंगजेब के शासनकाल में ई० सन् 1669 में आरम्भ हुआ जब कि मथुरा के जाटों ने उसकी धर्मान्धता के विरूद्ध विद्रोह किया। तब तिलपट के गोकुल व राजाराम के नेतृत्व में जाटों ने काफी साहसपूर्ण कार्य किये।[1] राजाराम ने तो अकबर के सिकन्दरा स्थित मकबरे को भी ई० सन् 1688 में लूटा था। बाद में सिन्सनी (डीग से 8 मील दक्षिण में) के भज्जासिंह, जिसके वंशधर वर्तमान भरतपुर राज्य के शासक हैं, ने जाटों का नेतृत्व सम्भाला। उसके पुत्र चूड़ामन ने ई० सन् में जाटों का 1702 नेतृत्व सम्भाला। उसने मुगल सेना को काफी परेशान किया। बाद में बादशाह बहादुरशाह ने 1500 जात व 500 सवार की मनसब उसे देकर शांत करना चाहा लेकिन वह विफल रहा। ई०सन् 1713 में जहांदरशाह और फर्रूखसियर के गृह-युद्ध के अन्त में, चूड़ामन ने दोनों पक्षों को लूटा। बाद में फर्रूखसियर ने उसे दिल्ली बुलवाया और 'राव' का पद देकर उसे शाही मार्गों की राहदारी का भार दिया। बादशाह ने ई० सन् 1714 में इसे पांच परगने जागीर में भी दिये। इसके अगले वर्ष बादशाह ने सोगरिया सरदार रूस्तम के के पुत्र खेमकरण को कुछ गांव जागीर में दिये लेकिन फिर भी जाट

[1] औरंगजेबनामा, भाग 2 पृ० 14;
कानूनगो कृत हिस्ट्री ऑफ जाटस्, पृ० 38-4 ।

बादशाह के विरुद्ध ही रहे। तब तक जाट राजनैतिक दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण हो गये थे। यह देखकर बादशाह ने ई० सन् 1716 में आमेर नरेश सवाई जयसिंह को जाट विरोधी अभियान के लिये नियुक्त किया। इस वक्त जाटों ने कूटनीति से बादशाह से समझौता कर लिया। बाद में ई० सन् 1721 की अक्टूबर में चूड़ामन ने पारिवारिक झगड़ों के कारण आत्महत्या कर ली।[1] यह पारिवारिक झगड़ा उसके पुत्र मोहकमसिंह तथा भतीजे बदनसिंह के बीच जमींदारी के मालिकाना अधिकार तथा बंटवारे के विषय में था।

बादशाह से समझौता कर लेने पर भी जाट अपनी विद्रोही प्रवृति छोड़ नहीं सके। मुगलों से उनकी बराबर लड़ाई होती रहती थी। वे राजकीय पथों को मनचाहते तब लूट लेते थे। अतः तंग आकर बादशाह ने उनके विरुद्ध बराबर सैना को तैनात कर दिया। ई० सन् 1721 में जाटों ने आगरा के नायब सूबेदार नीलकण्ठ नागर को फतहपुर सीकरी के निकट हरा दिया और उसे मार डाला।[2] अतः अगस्त 1722 में आमेर नरेश सवाई जयसिंह आगरा का सूबेदार नियुक्त किया गया। जयसिंह ने चूड़ामन के भतीजे बदनसिंह को अपनी ओर मिलाकर चूडामन के पुत्र मोहकमसिंह के विरुद्ध अभियान आरम्भ किया। उसने जाटों का बुरी तरह से दमन किया। मुगल सेना ने जाटों के मुख्य गढ़ थून पर ई० सन् 1722 की नवम्बर 18 को कब्जा कर लिया। मोहकमसिंह जोधपुर चला गया और जयसिंह का विश्वास प्राप्त कर लिया। बदनसिंह ने बादशाह की अधिनता स्वीकार कर ली। इसके फलस्वरूप सवाई जयसिंह ने उसे ई० सन्1823की मार्च18को डीग का स्वामी बना दिया और उसे ठाकुर की पदवी दी।[3] अप्रेल 1725 में बदनसिंह ने सवाई जयसिंह से एक इकरार किया कि वह महाराजा के दरबार में उपस्थित रहा करेगा व 83,000रु० वार्षिक पेशकश के रूप में दिया करेगा लेकिन यह इकरार ज्यादा दिन नहीं निभा। जयसिंह को पुनः जाटों के विरुद्ध लड़ना पड़ा।

बदनसिंह का पुत्र सूरजमल बहुत ही कूटनीतिज्ञ व शक्तिशाली हुआ। उसके समय में उसका राज्य यमुना के पार तक चला गया था। मुगल

---

[1] वाक़्या-राजस्थान, भाग 2 पृ० 47।

[2] कानूनगो कृत हिस्ट्री ऑफ जाटस्, पृ० 57।

[3] उपरोक्त, पृ० 59।

सेनापति सफदरजंग की सहायता करने के कारण उसने उसे मेवाड़ का इलाका भी दे दिया था। उसने ई० सन् 1733 में खेमकरण जाट से भरतपुर का गढ़ छीनकर उसे अपनी राजधानी बनाया। तब से यह प्रदेश भरतपुर-राज्य कहलाया ।

राजपूताने में जाटों का दूसरा राज्य धोलपुर है। यहां का राजवंश पहले आगरा के निकट बमरोली में बसा था जहां उनको ई० सन् 1505 से जमींदारी मिली हुई थी। ई० सन् 1195 में इनके पूर्वज सुरजनसिंह को राजपूतों से, उनको मुसलमानों के विरूद्ध सैनिक सहायता देने के कारण गोहद मिलाथा तथा 'राणा' की पदवी भी। ई० सन् 1761 में गोहद के राणा लोकेन्द्रसिंह के चाचा भीमसिंह ने ग्वालियर पर भी कब्जा कर लिया। ई० सन् 1767 में पेशवा रघुनाथराव ने गोहद के राणा पर चढ़ाई की लेकिन राणा ने पेशवा से समझौता कर लिया। बाद में मरहठों ने राणा से तीन लाख रुपये लेकर गोहद के राणा को स्वतन्त्र नरेश मान लिया। बादशाह शाह आलम ने भी ई० सन् 1771 में लोकेन्द्रसिंह को महाराजराणा की पदवी दी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने यहां के नरेश से ई० सन् 1779 की दिसम्बर 2 को आपसी मित्रता की संधि की। ई० सन् 1780 में गोहद के राणा की सहायता के लिये अंग्रेजों ने 2400 सैनिक भी भेजे। राणा ने तब ग्वालियर जीत लिया लेकिन ई० सन् 1782 में जब अंग्रेजों व सिन्धिया के बीच सालबाई की संधि हुई तब अंग्रेजों ने लोकेन्द्रसिंह का साथ छोड़ दिया। अतः सिन्धिया ने गोहद व ग्वालियर पर ई० सन् 1784 में कब्जा कर लिया। बाद में जब ई० सन् 1803 में अंग्रेजों ने सिन्धिया से धोलपुर, राजाखेड़ा व ग्वालियर ले लिये, तब ई० सन् 1804 में गोहद के राणा किरतसिंह से आपसी मित्रता व सहायता की सन्धि कर उसका गोहद व ग्वालियर पर कब्जा मान लिया गया। तब उसने गोहद में टकसाल स्थापित कर अपने सिक्के भी चालू किये। इसके बाद अंग्रेजों ने पुनः सिन्धिया से ई० सन् 1805 में सन्धि कर, गोहद व ग्वालियर, सिन्धिया को दे दिये तथा धोलपुर, राजाखेड़ा व बाड़ी महाराजा राणा को ई० सन् 1806 में दे दिये गये। तब से महाराजाराणा किरतसिंह धोलपुर का शासक कहलाने लगा।

जाट-राजवंश के राजपूताना के बाहर यह राज्य हैं—
पटियाला, कपूरथला, नाभा, जिन्द व सिरमौर।

(जाटवंश पर नई शोध)

जाट जाति का उद्भव और उसके प्रसार के तथ्य अभी तक शोध की सान पर नहीं चढ़े हैं। जाट-वंश के प्राचीन वैभव को खोजना अभी शेष है। यह जाति सम्पूर्णतया भारतीय एवं आर्य है। भारत-भूमि के बाहर भी जाट लोग गए। इस संक्रमण के अवशेष ईरान ईराक व शाम तक में प्राप्त होते हैं जो वहां के रीति-रिवाजों और भाषा के शब्दों में दृष्टिगोचर होते हैं। इस संबंध में यहां पर ख्वाजा गुलामुस्सकलैन साहब को 'रोचनामचा सियाहत' (शम्सुल अनवार प्रेस, मेरठ, 1912 ई० सन्) के पृष्ठ 120 पर का यह उद्धरण ही पर्याप्त होगा— "मौलवी अब्दुल रब साहब आज ता० 15 जुलाई 1911 ई०) मिलने आए। बकौल उनके ईराक के अरबों में अजम, तुर्क, अरब और हिंदिओं का मेल है कि अमीर मुआविया ने तीस हज़ार जाटों को हिन्दुस्तान से लाकर इराक़ में आबाद किया था और भिण्डी और तरबूज़ (हिन्दवाना) इन्हीं जाटों ने यहाँ जारी किया। नीज़ अब्बासियों के जमाना में इज़ारस जाट बुला कर आबाद किये गये। उन्होंने जमाने बवाअस अपनी कसरत के और जंगलों में महफ़ूज़ रहने के बगावत भी की थी और मुद्दत में फरो हुई। मुझको बहुत सी अरब औरतों को देखकर ताज्जुब होता था कि इनकी शकल जाटिनों से कैसे मिलती थी। अगर कोई न बताता तो 'हरम काज़मी' में यह मालूम होता था कि जाटनियाँ अपने बच्चों को लेकर आ गयी हैं। मगर अब्दुल रब साहब की ज़बानी मालूम हुआ कि जाट वाक़ई यहां आबाद हैं और 'बिन्दी बाबा' वाली मसल इन्हीं के मुताल्लिक है कि वह सबसे अलहदा आकर झोपड़ों में रहते थे और अरबों से न मिलते थे। भिण्डी को यहाँ 'बिन्दी' कहते हैं।"

जाटवंश की नस्ल का जो प्रभाव ईराक अथवा सामी देशों पर पड़ा उस का वैज्ञानिक अध्ययन, अभी तक कतई नहीं हुआ है। पर विद्वानों का ध्यान इस दिशा में आकृष्ट हुआ जान पड़ता है। सोवियत के नृवंश-विज्ञानवेत्ता श्री क्रुट्र्यात्सेव की विचार धारा समाचार पत्रों में प्राप्त हुई है। उनकी धारणा अथवा खोज के सम्बन्ध में बिना पूरी शोध को समझे, अभी कहना कठिन है, पर उनकी खोज से जाट जाति के वर्ग-चरित्र पर बहुत महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। सरसरी तौर पर यहाँ इतनी ही आलोचना कर सकते हैं कि वे भी जाटों को बाहर से भारत में आना तथा बसना मानते हैं जैसा कि अंग्रेजों के शासन में आर्यों का भारत में बाहर से आकर बसना बताया जाता था। शोध होती रहेगी, यहाँ पर सोवियत विद्वान का मत दे देते हैं।

श्री क्रुट्रयात्सेव का मत है कि बहुत बड़े प्रभावशाली और अत्यन्त सक्रिय वर्ग के रूप में जाटों ने उत्तर भारत के जातीय इतिहास में हमेशा महत्वपूर्ण योग दिया है। आजकल के पंजावियों के वे प्रमुख जातीय अंग हैं और समय-समय पर विभिन्न स्थितियों में वे सिन्धियों, राजस्थानियों, भारत और पाकिस्तानियों के अन्य लोगों के भी जातीय अंग रह चुके हैं। जाट अधिकतर किसान हैं। फिर भी उनमें भी बहुत से जाटों का मुख्य पेशा पशुपालन है। जाटों का मूल स्रोत तो अभी तक अविदित ही है।

श्री क्रुट्रयात्सेव को सबसे पहला उल्लेख आठवीं शती में सिंध पर अरब हमले के समय का मिला है। अरब हमले के समय सिंध के शासक की जाट सैनिक टुकड़ियां हमलावरों के साथ मिल गईं और बहुत से जाट मुसलमान हो गये। जाट लोग 'मेड' नामक एक अन्य कबीले के साथ अफगानिस्तान की आक्सस नदी के तट से सिन्धु की घाटी में आये थे। यह घटना ईसा युग के शुरू की है। मेड तो, दक्षिण पंजाब और ऊपरी सिंध में बस गये और जाटों ने निचले सिंध और बलूचिस्तान में घर बना लिये। पन्द्रहवीं शती के मध्य में स्थापित बीकानेर के शासक वंश ने जाटों को वहां के "मूल स्वामी" मान लिया और एक जाट सरदार को यह अधिकार दिया कि वह प्रत्येक नये शासक को शासनाधिकार से अभिषिक्त करे। तैमुर लंग, बाबर और अन्य मुस्लिम हमलावरों ने जाटों को जब पंजाब से भगा दिया तो उन्हें ऐसे लोगों में जाना पड़ा जो न केवल उनके लिये बिल्कुल नये थे, बल्कि जिनकी सांस्कृति परम्पराएं भी जुदा-जुदा थीं। अन्ततः जाट उन लोगों में खप गये और जाटों ने उन लोगों की भाषा, रहन-सहन और धर्म को अपना लिया। इससे सिद्ध है कि जाट लोग विभिन्न जातियों में बंटे हुए हैं। भारत में जिन जाटों के साथ अंग्रेजों का सबसे पहले सम्पर्क हुआ वे राजस्थान और गंगा की मध्य घाटी के थे। ब्रिटिश शासकों ने उनके साथ देश के अन्य क्षेत्रों के जाटों को भी मिला कर उन सबको एक ही जाति की संज्ञा दे दी। सत्रहवीं शती के उतरार्द्ध और अठाहरवीं शदी के प्रारंभ में मुगलों के विरूद्ध उपद्रवों का जो सिलसिला चला उससे स्पष्ट होता है कि गहरी सामाजिक विभिन्नता के बावजूद जाट लोग अपनी जातीय एकता के बारे में बहुत जागरूक रहे हैं। देश के अनेक भागों के लाखों जाटों ने एक होकर अपने आत्मनिर्णय के अधिकार की रक्षा के लिए मुगलों का कड़ा मुकाबला किया था। अन्ततः अठाहरवीं शती के मध्य में कुछ समय तक जाट लोग दिल्ली के पास अपना स्वतन्त्र जाट राज्य स्थापित करने में सफल हुए थे।

—सम्पादक.

14

राजस्थान के इतिहासकार

सच्चे इतिहास के संग्रह में यद्यपि कठिनाइयां हैं परन्तु यह कार्य असम्भव नहीं है। इतिहास की सामग्री इस समय कई जगह बिखरी हुई है। उसकी खोज करना व एकत्रित करना परिश्रम व लगन का काम है। इतिहास में राजाओं के नाम और उनकी तिथियाँ देने से काम नहीं चलता है उन राजाओं के सुप्रबन्ध, शासन कार्य, वीरता व प्रजाहित की बातों का उल्लेख भी होना चाहिये। इतिहास में राजा व प्रजा का हाल, जाति की सभ्यता, संस्थाओं का वृत्तान्त, कला, साहित्य और उद्योग-धन्धों के विकास पर भी प्रकाश डालना चाहिये और इतिहास को सच्ची घटनाओं का ही संग्रह बनाना चाहिये। इसके लिए परम्परा से चली आने वाली दन्त कथाओं की लम्बी चौड़ी गाथाओं से सार निकालना भी आवश्यक है। अब तक जो इतिहास राजपूताने का पाया जाता है उसमें इन्हीं कथाओं की भरमार अधिक है। प्रसिद्ध-प्रसिद्ध राजाओं और व्यक्तियों की जीवन घटनाओं के अतिरिक्त तत्कालीन सामाजिक जीवन और धार्मिक वृत्तांत कम मिलता है। इसका कारण यह है कि प्रथम तो इतिहास की सामग्री कम है दूसरे वह भी रियासतों के पुराने रेकर्ड़ों में पड़ी सड़ रही है व कहीं दीमकों से चाटी जा रही है। जहां कहीं दो चार राज्यों में इतिहास को महकमे खुल भी गए हैं, वहाँ भी इतिहास संशोधन का कार्य जैसा होना चाहिये वैसा नहीं हो रहा है।

बात तो यह है कि साहित्य के अन्य विषयों की तरह इतिहास के प्राचीन ग्रन्थ नहीं मिलते हैं। मुसलमानों आदि के हाथ से नष्ट होने पर भी जो कुछ सामग्री बची है वह भी पुराण व काव्य ग्रन्थों के आधार पर व दन्त कथाओं के रूप में है। इतिहास का सत्यान्वेषी विद्यार्थी इस उपलब्ध सामग्री को इसी रूप में ग्रहण नहीं कर सकता। क्योंकि इसमें कवि-कल्पना

तथा अतिशयोक्ति से काम लिया गया है। वास्तव में इतिहास की सामग्री के लिए चार विभागों में अनुसन्धान करना आवश्यक है—

पहला—प्राचीन पुस्तकें,

दूसरा—प्राचीन यात्रियों की यात्राओं का वृत्तांत,

तीसरा—शिलालेख व ताम्र पत्र (दान पत्र) और

चौथा—सिक्के।

इनमें शिलालेख अत्यन्त विश्वसनीय साधन हैं। ख्यातों का तो यह हाल है कि विक्रम की सोहलवीं शताब्दी के पूर्व के संवत व नाम प्रायः वही भाटों के आधार पर होने से ठीक नहीं लिखे गये हैं। इसका कारण या तो ब्रह्मभाटों की असली वहियों का नष्ट होना या विल्कुल ही नहीं होना है अवथा बाद में लिखा जाना प्रतीत होता है। इससे उन्हें नई बनाकर बुद्धिमानी दिखाने हेतु प्रसिद्ध वीरों के नामों के साथ साथ मनघड़न्त नाम, संवत् आदि लिखकर वंशावलियाँ उन्होंने पूर्ण करने की कोशीश की है। पुराणों मेंभी सूर्य और चन्द्रवंशी राजाओं की वंशावलियाँ मिलती हैं। परन्तु वे इतिहास का काम नहीं दे सकती हैं। प्राचीन ग्रन्थों में प्रसंगवश कई राजवंश का उल्लेखमात्र मिलता है। कहीं-कहीं कौटिल्य के अर्थशास्त्र जैसे प्राचीन ग्रन्थ निकल आते हैं, जिनसे ईसामसीह के पूर्व चोथी शताब्दी की राज्य-व्यवस्था का ज्ञान होता है। इसके सिवाय यूनानी, चीनी व अरब यात्रियों के वृतान्त भी उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इतिहास विद्या का प्रचार कम होने से भी इस ओर रुचि कम है, और अरब-फारसी के ग्रन्थ, संस्कृत के काव्यों और शिलालेख एवं ताम्र-पत्र आदि की भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करने में भी कठिनाई होती हैं। इसलिए लोग इतिहास को एक रूखा परिश्रम साध्य विषय समझते हैं। यद्यपि इसकी उपयोगिता बहुत अधिक है फिर भी जितना ध्यान इस ओर जाना चाहिये था उतना अब तक नहीं गया है।

वास्तव में राजपूताने का ठीक-ठीक इतिहास आधुनिक खोज के अनुसार लिखने का प्रयत्न कम ही हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि इसके

वंश-भास्कर के प्रणेता

महाकवि सूर्यमल मिश्रण

सबसे प्रथम प्रयत्न का श्रेय कर्नल जेम्स टॉड[1] को है जिसने चारण-भाटों की ख्यातों, दन्तकथाओं और वंशावलियों के आधार पर अपने गुरु जैन यति ज्ञानचन्द की सहायता से अंग्रेजी भाषा में एक उपयोगी ग्रन्थ "एनाल्स एण्ड ऐन्टिक्विटीज ऑफ राजस्थान" (राजस्थान का इतिहास) नाम से केवल सात राज्यों का इतिहास निज व्यय से छपवा कर प्रकाशित किया। इसके प्रकाशित होते ही राजपूत वीरों की कीर्ति जो पहले भारत में सीमा बद्ध थी, सारे भूमण्डल में फैल गई। इस ग्रन्थ का पहल भाग ई० सन् 1829 (वि० सं० 1886) में और दूसरा भाग ई० सन् 1832 (वि० सं० 1889 में अंग्रेजी में प्रकाशित हुआ। परन्तु शिलालेख, ताम्रपात्र, सिक्के आदि ठीक-ठीक न पढ़ने से और मूता नैणसी की ख्यात जैसे उपयोगी ग्रन्थ के अप्राप्त होने से ग्रन्थ में कई अशुद्धियां रह गईं।

मूता नैणसी की ख्यात जो 275 वर्ष पूर्व वि० सं० 1722 (ई० सन् 1665) में लिखी गई थी, वह भी आधुनिक शोध के अनुसार अपूर्ण है। वैसे तो सभी देशी ख्यातें प्राय: अतिशयोक्ति-पूर्ण (बढ़ा चढ़ाकर) लिखी गईं हैं और 15वीं शताब्दी के पूर्व के बहुत से नाम व संवत् उनमें कल्पित लिखे मिलते हैं। फिर भी सोहलवीं शताब्दी के बाद से इन ख्यातों की वंशावली सही मिलती है। प्राचीन-काल में राजाओं ने ख्यातों का क्रम जारी रक्खा था या नहीं यह निश्चय नहीं है। परन्तु जब बादशाह अकबर के प्रधानमन्त्री अबुलफज़ल (नागोरी) ने "आईन-ए-अकबरी" बनाई और राजाओं से भी उनका इतिहास पूछा गया तब राजाओं ने भी अपने-अपने राज्यों की ख्यातें तैयार कराना शुरू किया। इससे इन ख्यातों का बनना सत्तरवीं शताब्दी में तो प्रकट होता है। इसी शैली से मुहणोत नैणसी ने भी—जो जोधपुर का

[1] कर्नल टॉड का जन्म इंगलैण्ड के इस्लिगटन नामक स्थान में 20-3-1782 ई० (चैत्र सुदि 3 सं० 1839) को हुआ था। 17 वर्ष की आयु में वे सेना में भरती होकर बंगाल आये। जहां ई० सन् 1880 ता० 9 जनवरी को दूसरे नम्बर की यूरोपियन रेजिमेंट में उनको पद मिला। इसी वर्ष की 29 मई को वे लेफ्टिनेन्ट हुए। 22 वर्ष तक भारत में रह कर वे ई० सन् 1822 ता० 1 जून को उदयपुर (मेवाड़) से विलायत को रवाने हुए और ई० सन् 1823 के फरवरी मास में बम्बई से जहाज में बैठे। ई० सन् 1825 की 28 जून को उन्होंने वहीं से नौकरी को इस्तीफा दे दिया। उन्होंने सन् 1826 ता० 16 नवम्बर को 44 वर्ष की आयु में एक डाक्टर की पुत्री से विवाह किया। ई० सन् 1835 की 17 नवम्बर को वे 53 वर्ष की आयु में अपनी स्त्री, दो पुत्रों और एक पुत्री को छोड़ कर मिरगी रोग से चल बसे।

दीवान था—राजपूताने के राजाओं की वंशावलियां दी है। कर्नल टॉड को यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो सका। इसी से टॉड का ग्रन्थ भी कई अन्शों में अधूरा रह गया। इसके सिवाय टॉड साहब ने केवल सात राज्यों का ही इतिहास दिया है और वह भी क्रमवद्ध और पूर्ण नहीं है।

कर्नल टॉड के पश्चात् बून्दी राज्य के चारणकवि सूर्यमल मिश्रण[1] ने राजपूताने के इतिहास पर एक अच्छा ग्रन्थ कविता में "वंशभास्कर" नाम का लिखा था। परन्तु वह भी प्राय: भाटों आदि की दन्तकथाओं के आधार पर था। उसमें बून्दी का विस्तृत और राजपूताने के राज्यों का संक्षिप्त इतिहास प्रसंगवश आया हुआ है। यह ग्रन्थ कवि की मृत्यु के तीस वर्ष पश्चात् छपा है। इस ग्रन्थ का बुद्धसिह चरित्र वि० स० 1945 में तथा उम्मेदसिह-चरित्र सं० 1948 मे लीथो में छपा परन्तु यह ग्रन्थ जोधपुर से संवत् 1956 (ई० सन् 1899) में जोधपुर निवासी महामहोपाध्याय कविराजा मुरारिदान के उद्योग से चार भागों में मय टीका के पूरा प्रकाशित हुआ था।

इसके वाद भरतपुर राज्य के अदालती मुन्शी वावू ज्वालासहाय[1] माथुर ने 'वकाये राजपूताना' नाम का एक इतिहास ग्रन्थ उर्दू में लिखकर सं० 1935 (ई० सन् 1878) में प्रकाशित किया। यह तीन जिल्दों में समाप्त हुआ। परन्तु यह भी कर्नल टॉड के राजस्थान-इतिहास के आधार और अंग्रेज सरकार की रिपोर्टों के सहारे पर ही लिखा गया। उसमें भी आधुनिक खोज से काम नही लिया गया। इसके वाद एक वड़ा प्रयत्न राजपूताने के इतिहास को संकलन करने के लिये किया गया और उदयपुर के विद्यानुरागी महाराणा सज्जनसिह महोदय ने अपने राजकवि विद्वद्वर

---

[1] महाकवि सूर्यमल का जन्म वि० सं० 1872 कार्तिक सुदि 1 को तथा उनकी मृत्यु स० 1925 की आषाढ सुदि 11 मंगलवार को हुई।

[2] वावू ज्वालासहाय के पिता मुंशी कृपाकिशन कानूनगो (माथुर कायस्थ) ग्राम सोहना जिला गुड़गांव के रहने वाले थे। वे अलवर राज्य की नौकरी में थे। इसने ज्वालासहाय का जन्म वि० सं० 1795 (ई० सन् 1838) में तिजारा (अलवर) मे हुआ। वावू ज्वालासहाय सं० 1930 (ई० सन 1873) से निरन्तर भरतपुर स्टेट सर्विस में थे और उन्होंने अपनी वृद्धा अवस्था चिरसेवित भरतपुर में ही विताई। इनका स्वर्गवास 81 वर्ष की आयु वि० स० 1975 (ई० सन् 1918) में हुआ।

महामहोपाध्याय कविराजा श्यामलदास[1] को यह काम सौंपा। इसमें लगभग 2 वर्ष लगे और एक लाख रुपया खर्च हुआ। लगभग तीन हजार पृष्ठों के 5 भाग में यह ग्रन्थ रत्न "वीर विनोद" नाम से सं 1943 (ई० सन् 1886) से छपना शुरू हुआ। इसमें उदयपुर-राज्य का इतिहास वहुत विस्तार से शिलालेखों आदि से लिखा गया और राजपूताना तथा वाहर के अन्य राज्यों का जिनका किसी प्रकार उदयपुर से सम्वन्ध रहा, उनका भी संक्षिप्त इतिहास ख्यातों आदि से दिया गया है। परन्तु इस ग्रन्थ की दो चार प्रतियां ही वाहर निकल पाईं, वाकी सव छपी हुई एक हजार प्रतियां 45 वर्ष से अधिक हुआ उदयपुर के राजमहलों में बन्द पड़ी सड़ी है। जिन दिनों वीर विनोद का अन्तिम भाग छप रहा था उन दिनों उसके आधार पर एक छोटी सी पुस्तक "तोहफै राजस्थान" नाम से उदयपुर इतिहास कार्यालय के मौल्वी अब्दुल फरहती (विजनौर) ने वि० सं० 1946 चैत्र (ई० सन् 1888 अप्रेल) में प्रकाशित की थी। परन्तु उसकी भी कुछ ही प्रतियां वाहर निकलने पाईं और इतिहास प्रेमी उससे भी लाभ उठाने से वंचित रह गये।

इसके वाद वि० सं० 1948 में जयपुर राज्य के सीकर ठिकाने के स्वर्गीय मास्टर चारण रामनाथ रतनु (चन्द्रपुरा) ने "इतिहास राजस्थान" नाम से छोटी सी पुस्तक निकाली। परन्तु वह कर्नल टॉड के आधार पर ही थी और वह भी थोड़े समय में ही अप्राप्य हो गई। सं० 1950 (ई० सन् 1893) से जोधपुर के मुन्शी देवीप्रसाद कायस्थ (गौड़)[2] ने जयपुर, उदयपुर,

---

[1] कविराज श्यामलदास का जन्म वि० स० 1893 द्वि० आषाढ़ वदि 7 को मेवाड़ राज्य की चारण जाति में हुआ। इन्हे महाराणा उदयपुर की ओर से कविराज की पदवी सं० 1935 की पोष सुदि 2 को तथा राज्य की सिफारिस से 'महामहोपाध्याय" की उपाधी अंग्रेज सरकार से वि० सं० 1945 (ई० सन् 1888 ता० 1 जनवरी) को मिली थी। इनका देहान्त स० 1951 ज्येष्ठ वदि 30 को हुआ।

[2] मुन्शी देवीप्रसाद, टोंक (राजपूताना) के निवासी थे। इनका जन्म वि०सं० 1904 माघ सुदि 4 (ई० सन् 1848 ता० 19 फरवरी) को अपने ननिहाल जयपुर मे हुआ था। टोंक राज्य में हिन्दुओं पर होने वाले जुल्मो को समाचार पत्रों मे छपाने के कारण उन्हे टोंक नव्वाव ने देश निकाला दे दिया। इससे विं० स० 1936 से मृत्यु समय तक वे जोधपुर राज्य की सर्विस मे रहे। उन्होने फारसी की कई ऐतिहासिक पुस्तकों का अनुवाद हिन्दी मे किया था और वे मुसलमानी काल के भारतीय-इतिहास के वड़े ज्ञाता थे। उनका देहान्त 76 वर्ष की आयु मे ई० सन् 1923 ता० 15 जुलाई (वि० स० 1980) को जोधपुर में हुआ।

बीकानेर तथा जोधपुर के कुछ राजाओं की संक्षिप्त जीवनियें प्रकाशित कीं परन्तु वे भी "टॉड राजस्थान", ख्यातों व फारसी ग्रन्थों के आधार पर ही थीं। परन्तु फिर भी वे कुछ उपयोगी अवश्य थीं। इसके बाद उदयपुर के बाबू रामनारायण दूगड़, नवीन खोज के अनुसार राजपूताने के सब राज्यों का इतिहास निकालना चाहते थे और उस ग्रन्थमाला की दो पुस्तकें "राजस्थान रत्नाकर" न म से छापी भी गई थीं। प्रथम भाग में राजपूताने का संक्षिप्त भूगोल व राजवंशों का परिचय था जो वि० सं० 1966 (ई० सन् 1909) में प्रकाशित हुआ। दूसरे भाग में मेवाड़ का नवीन खोज के अनुसार इतिहास था। खेद है कि इस दूसरे भाग की 8-10 प्रतियां ही वि० सं० 1970 (ई० सन् 1913) में बाहर प्रकाशित होने पाई थी कि उदयपुर राज्य ने उनके प्रचार को भी रोक दिया। इससे दूगड़जी[1] का सब उत्साह ठण्डा हो गया और वह स्कीम जहां की तहां रह गई।

इस महान कमी को पूरा करने के लिए एक पूर्ण इतिहासज्ञ विद्वान की आवश्यकता थी। यह श्रेय अजमेर म्यूजियम के क्यूरेटर (अध्यक्ष) श्रद्धेय महामहोपाध्याय रायबहादुर श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा[2] को मिला। इन्होंने अत्यन्त परिश्रम, अनुशीलन से तथा खोज से राजपूताने का इतिहास को वि० सं० 1982 (ई० सन् 1925) से प्रकाशित करना आरम्भ किया। यह ग्रन्थ अभी अपूर्ण है, किन्तु सम्पूर्ण प्रकाशित होने पर यह शोधकर्त्ताओं के लिए अपूर्व पथप्रदर्शक होगा। इसके पहले के दो खंडों के प्रकाशन में स्वर्गीय बाबू रामनारायण दूगड़ ने भी पूर्ण सहयोग दिया था। ओझाजी का यह काम बड़ी मेहनत एवं विद्वता का है। इसीसे दस वर्षों में केवल मेवाड़ राजवंश का इतिहास ही दो जिल्दों में निकल सका है। इस

---

[1] बाबू रामनारायण दूगड़ का जन्म उदयपुर (मेवाड) की ओसवाल महाजन जाति में वि० सं० 1913 पौष सुदि 2 को हुआ। ये उदयपुर राज्य के महकमे बागात में क्लर्क थे। इनका देहान्त ई० सन् 1931 ता० 13 अक्टूबर (वि० सं० 1988) को 75 वर्ष की आयु में हुआ। ये बड़े परिश्रमी तथा कई भाषाओं के ज्ञाता थे।

[2] रायबहादुर गौरीशंकर ओझा सिरोही राज्य के रोहिड़ा स्थान के निवासी है। इनका जन्म वहाँ की गोरवाल (औदित्य) ब्राह्मण जाति में वि० सं० 1920 की भादो सुदि 2 को हुआ। ये वि० सं० 1944 से सं० 1965 तक उदयपुर (मेवाड़) स्टेट की सर्विस में रहे। पश्चात् अजमेर के अजायबघर के क्यूरेटर (अध्यक्ष) नियुक्त हुए तब से इसी पद पर हैं।

कर्नल जेम्स टॉड
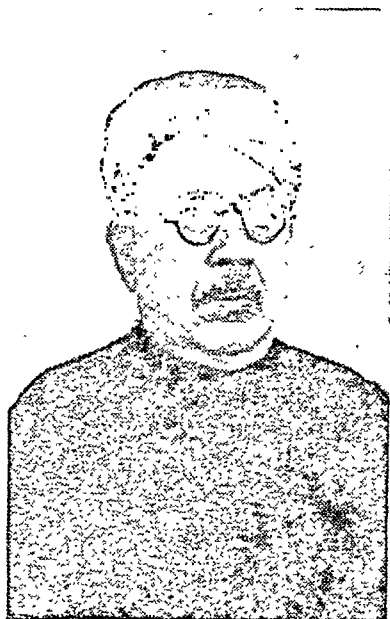
म. म. डॉ० गौरीशंकर हीराचंद ओझा

क्रम से सर्वाङ्ग पूर्ण राजपूताने के इतिहास के प्रकाशित होने में अब भी दस-पन्द्रह वर्ष का बड़ा समय लगेगा और वह कई भागों में समाप्त होगा। परन्तु यह कार्य राजपूताने के एक बड़े योग्य वयोवृद्ध विद्वान के हाथ में है। इसलिए इसमें किसी प्रकार की कमी रहने की सम्भावना नहीं है। परन्तु केवल उदयपुर (मेवाड़) राज्य की दो जिल्दों का मूल्य ही 24 रु० है और वे राजसंस्करण के तुल्य सर्वसाधारण के लिए दुष्प्राप्य हैं। (स्व० लेखक ने यह लेख ता० 8-7-1937 को लिखा था। ता० 17-4-1947 ई० को 84 वर्ष की आयु में ओझाजी का देहांत रोहिड़ा में हुआ। वे अपने समय में सम्पूर्ण इतिहास प्रकाशित नहीं कर सके, केवल कुछ रियासतों का इतिहास ही लिख सके। —सम्पादक)

15

बांकीदास की ऐतिहासिक बातें

आज से 150 वर्ष पूर्व लगभग 3000 तवारीखों वातों के संग्रह का, एक अपूर्व प्रयास हुआ है। यह संग्रह कविराज बांकीदास ने किया था।

एक कवि और ऐतिह्य प्रेमी होने के नाते से राजस्थान की मारवाड़ी (डिंगल) भाषा में कविराज बांकीदास का बड़ा नाम है। उनका जन्म चारण जाति के आसिया कुल में वि० सं० 1828 माघ वदि 3 सोमवार (ई० सन् 1772 ता० 3 फरवरी) को जोधपुर राज्य के पचपदरा परगने के

भांडियावास[1] में हुआ था। भाट, चारण व सेवक (शाक द्विपी) डिंगल कविता के लिए बहुत ही प्रसिद्ध हैं। बाल्यकाल से ही उनको कविता करने का सामान्य ज्ञान कराया जाता है। फिर भला हमारे चरित्र नायक भी कैसे इससे वंचित रहते। घर पर ही इनको कविता रचना सिखाया गया। बड़े होने पर वि० सं० 1854 (ई० सन् 1797) में यह जोधपुर आये। वहां कुछ वर्षों तक इन्होंने विभिन्न विद्वानों की देख रेख में प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थों, व्याकरणों व साहित्यिक ग्रन्थों का अध्ययन किया। अपनी अद्भुत काव्य शक्ति के कारण इनकी सब जगह प्रशंसा हुई।

इस समय जोधपुर के शासक महाराजा मानसिंह राठौड़ थे। ये महाराजा विद्वानों के आश्रयदाता व गुणग्राहक तथा स्वयं कवि थे। महाराजा ने जब अपने ही यहां के गुरु आयस देवनाथ से अपने यहां के एक व्यक्ति की इतनी प्रशंसा सुनी तो फौरन बांकीदास को बुलाया। उन्होंने वि० सं 1860 (ई० सन् 1803) में बांकीदास आसिया को "लाखपसाव" नामक पारितोषिक[2] दिया और उन्हें राजसभा (दरबार) में राज के कवियों में स्थान दिया। कहते हैं कि महाराजा ने उनको साहित्य ज्ञान के लिये अपना गुरु बनाया। बाद में महाराजा ने उनको "कविराजा" की उपाधि, ताजीम, पांव में सोना, बांहपसाव[3] आदि का मान भी दिया। महाराजा ने उनको आदर यहाँ तक दिया कि उन्हें कागजों पर लगाने के लिये अपनी मोहर में, अपना शिक्षा गुरु तक लिखने की आज्ञा दे दी—

---

[1] कहते हैं कि भांडियावास गांव बांकीदास के पूर्वज मालाज चारण को जोधपुर राज्य से दान में मिला था। इन मालाज से इनकी वंशावली इस प्रकार है। मालो, खेतो, सूजो, सगतीदान, फतो (फते दान), बांकीदास, भारतदान (दत्तक), मुरारदान, गणेशदान, मेहरदान (दत्तक) और तेजदान (वर्तमान)।

[2] राजपूताने में चारण, भाट, सेवक नक्कारची (दमामी-राणा) आदि कवियों को जो पुरस्कार इस नाम से दिया जाता है उसमें नकद रुपये नहीं होते हैं किन्तु हाथी, घोड़े, ऊंट, कुछ वस्त्र, आभूषण, जमीन, अनाज आदि के रूप में दिया जाता है। इन सबका मूल्य करीब 10-15 हजार रु० के हो जाता है। फिर भी वह "लाख पसाव" (लक्षप्रसाद) ही कहलाता है।

[3] यह एक प्रकार का दरबारी सम्मान (ताजीमं) है जो किसी व्यक्ति विशेष के आने पर महाराजा उसके कन्धे पर हाथ लगाते हैं परन्तु उसको अपने हृदय से नहीं लगाते हैं।

"श्रीमान् मान धरणिपतिवहु-गुन-रास
जिन भाषा गुरु कीनौं बांकीदास ।।"

वांकीदास वहुत ही सत्यवादी, निर्भिक व स्वाभिमानी कवि थे। इसके लिये वे महाराजा की भी परवाह नहीं करते थे। महाराजा साहब भी इनका वहुत आदर करते थे। अन्तिम दिनों में जव महाराजा अपने नाथ-गुरु देवनाथ के कारण संम्प्रदाय वंश में बहुत रत हो गये। तव कनफटे नाथों ने मारवाड़ में उपद्रव मचाना शुरु कर दिया। इससे राज्य के मुत्सदी मेहता अखेचन्द ओसवाल और आउवा व आसोप आदि के सरदारों ने मिलकर प्रधान मंत्री सिन्घवी इन्द्रराज और राजगुरु आयस देवनाथ को जोधपुर के किले में पिण्डारी नेता नव्वाव अमीरखाँ (टोंक) के सिपाही द्वारा वि० सं० 1872 (ई० सन् 1863) में मरवा डाला। राज्य का कुल प्रवन्ध ज्येष्ठ महाराज कुमार छत्रसिह महाराज के हाथ से दिलवा दिया। पोकरन का सरदार ठाकुर सालिम सिह चांपावत (राठौड़) राज्य का प्रधान बनाया गया। यही नहीं वल्कि युवराज को चौपासनी जोधपुर के वल्लभ सम्प्रदाय के गौसांई द्वारा गुरु मंत्र सुनवाया गया इससे यहां भीमनाथ आदि कनफटे नाथों (दसनामी) की प्रतिष्ठा में फर्क आया और उनका प्रभाव हटने लगा। उस समय कविराज बांकीदास ने महाराजा मानसिंह के अप्रसन्न होने की कुछ परवाह न कर, नाथों की आलोचना करते हुवे एक सवैया कहा, जिसका अन्तिम चरण इस प्रकार है "मान को नन्द गोविन्द रटे, जव गंड फटे कन फटन की" जव यह सवैया महाराजा के कानों तक पहुँचा तो वे वहुत अप्रसन्न हुये और कविराज को पकड़ने का हुक्म दे दिया। इससे वांकीदास जोधपुर छोड़कर उदयपुर चले गये। वहां महाराणा ने भी उनका वड़ा मान किया। कुछ समय बाद मानसिंहजी को कविराज के मारवाड़ छोड़ देने का वड़ा दुख हुआ। अन्त में उन्होंने वहुत कुछ अनुनय विनय करके कविराजा को वापस वुलाया। बांकीदासजी को मानसिंह के द्वारा दो लाख पसाव पुरस्कार प्राप्त हुये थे परन्तु खरी सुनाने पर, उन्हीं के द्वारा तीन दफा वे देश से निकाले भी गये।

महाराजा मानसिंह के समय में जव वि० सं० 1874 (ई०सन् 1818) में विदेशी अंग्रेजों का प्रभाव वढने लगा तो उस समय महाकवि बांकीदास ने यह गीत कहा—

आयो इंगरेज मुलक रै ऊपर, सांहस लीधा खैंचि उरा।
धणिया मरेन दीधी धरती, धणियां ऊभां गई धरा ।।१।।

फौजां देखन कीधी फौजां, दोयण किया न खला डला।
खवां खांच चूडै खावंद रै, उण हिज चूडे गई बलां ॥२॥
छत्रपातयां लागी नेह छाणत, गढ़पतियां धर परी गुमी।
बल नेह कियो बापड़ा बोतां, जोतां जोतां गई जमी ॥३॥
दोय चत्र मास बाजियो दिखणीं, भीप गइ सो लिखत भवेस।
पूगो नहीं चाकरी पकड़ी, दीधो नहीं मरैठ देस ॥४॥
अड़ियो भलो भरतपुर वालो, गाजे गजर धजर नभ गोम।
पहलां सिर साहब रो पड़ियो, भड़ उभा दीधी नह भोम ॥५॥
महि जातां चींचातां महिला, अै दांय मरण तणा अवसांण।
राखा रे किहिकं रजपूतां, मरद हिंदू कि मूसलमाण ॥६॥
मति जोधाण, उदयपुर जयपुर, पहु थारा खूटा परियांण।
आंकै गई आंवसी आंके, वांके आसल किया बखांण ॥७॥

अर्थात--जब अंग्रेज इस देश के ऊपर चढकर आये तब उन्होंने सब के पराक्रम को अपनी-अपनी ओर खींच लिया। पृथ्वी के पतियों ने अर्थात् राजाओं ने उनको यह भूमि मर कर नहीं दी किन्तु उनके खड़े-खड़े ही पृथ्वी (दूसरों के अधिकार में) चली गई।१।

राजाओं ने शत्रुओं (विदेशी) अंग्रेजों की सेनाओं को देखकर भी न अपनी सेना एकत्र की और न शत्रुओं का नाश ही किया। किन्तु पृथ्वी पतियों राजाओं ने स्त्रियों के हाथी दात की चुड़ियां खांचा को खोचना शुरू किया अर्थात् स्त्रियों में आसक्त हो गये[1] तब उन स्त्रियों के पतियों की जमीन उसी चूड़े के पास चली गई अर्थात् औरत मालिक हो गई।२।

राजाओं को यह बात बुरी मालूम न हुई तब गढ़पतियों की जमीन भी चली गई। इन वेचारे लोगों ने तो पृथ्वी को खोते हुए जरा भी तो बल पराक्रम नहीं दिखाया। इनके देखते-देखते पृथ्वी चली गई।३।

मरहठे दो चतुर्मास तक लड़े यदि उनकी जमीन जाती रही तो यह

---

1 स्वर्गीय ईडर नरेश लेफ्टिनेन्ट जेनरल महाराजा सर प्रताप भी कविवर ऊमरदान चारण का यह दोहा "रजपूतो रही नहीं' पुगी संमदर पार' पातरिया रे पाद में सींज गया सरदार" बहुत बार कहा करते थे। (देखो महाराजा सर प्रताप का स्वलिखित जीवन चरित, पृष्ठ172, न्याय मूर्ति) ईडर राज्य के दीवान राधाकृष्ण द्वारा सम्पादित।

होनहार ऐसा ही था। परन्तु उन्होंने न तो दासता (चाकरी) ही अंगीकार की और न अपना महाराष्ट्र देश ही दिया।४।

भरतपुर का जाट राजा भी अच्छा लड़ा और तड़के एक पहर तक खूब डटा रहा। उसने तोपों की गर्जना से आकाश और पृथ्वी दोनों को गूंजायमान कर दिया। उस युद्ध में साहब का सर पहले पड़ा, राजा ने पैरों पर खड़े रहते भूमि नहीं दी।५।

संसार में पुरुष के लिए ये दो ही समय मरने के हैं। एक तो उसकी जमीन जाती हो और दूसरे जब स्त्री जाति पर अत्याचार होता हो। कवि कहता है कि तुम कुछ तो राजपूती वीरता रखो, क्या हिन्दू ? क्या मुसलमान ?।६।

हे जोधपुर, उदयपुर और जयपुर के पतियों ! तुम्हारे अन्तःकरण का परिणाम विगड़ गया है और तुम्हारा तो यह वंश ही समाप्त हो चला है। अब तो कोई अच्छा समय आवेगा तभी यह धरती तुम्हारे हाथ आवेगी (स्वतन्त्र होगें)। यह विल्कुल ठीक ठीक बांकीदास कहता है। तुम लिखलो, याद कर लो।७।

उस समय उदयपुर(मेवाड़)के महाराणा भीमसिंह उदार थे। बांकीदास कभी कभी भीमसिंह के विषय में दोहे, गीत आदि रच कर उदयपुर भेजा करते थे और उनके उत्तर में महाराणा के खास रुक्के (स्वहस्ताक्षर के पत्र) आया करते थे। एक बार महाराणा ने कविराज को पुरस्कार देने के लिये अपने आदमी भेज कर, उदयपुर बुलाया और महाराजा मानसिंह ने भी बांकीदास से आग्रह किया कि वे वहां जावें। परन्तु बांकीदास न गये और मानसिंह से कह दिया कि आप जैसे स्वामी को छोड़कर मैं अब जाना नहीं चाहता और आज से मैं आपका अयाची होकर प्रतिज्ञा करता हैं कि मैं और मेरा वंशज भी, आपके उत्तराधिकारी नरेश वंशजों के सिवाय, किसी से दान (त्याग) नहीं लेवेंगे। उस समय बांकीदास ने यह सवैया कहा—

पारस की परवाह नहीं, परवाह रसायन की न रही है।
वंक सौं दूर रहा सुरपादप, चाह मिटी कित मेरू मही है।
देवन को सुरभी दिस दौर थकी मन की सब सांची कही है।

मांगहौ एक मरुपति मांनको, नाथ निभायेगो टेक गही है।
राव रो दान मूरार भने, जग जाहर है कवि कीरत गाई।
मैं हूँ अयाचक भूप जोधान को, वीनती माफी की बातें कराई।
सज्जन मो अपराध न लेखिये, देखिये राव री वंस बड़ाई।
धर्म निवाहन को हिन्दवान को, रान रहे तन त्रान सदाई।[1]

कविराजा बांकीदास जी का शरीर मोटा था और पिछले दिनों में तो वे और भी अधिक मोटे हो गये थे जिससे वे न तो पैरों से चल सकते थे और न खड़े ही रह सकते थे। उनके कोई पुत्र नहीं था इससे उन्होंने अपने जीवन काल में ही अपने भाई पनजी के पुत्र भारतदान को गोद ले लिया था। वैसे वांकीदासजो चार भाई थे। बांकीदास जी का देहांत 62 वर्ष की आयु में वि० सं० 1890 की सावण सुदि 3 शुक्रवार (ई० सन् 1833 ता०19 जुलाई) को जोधपुर में हो गया। इससे महाराजा मानसिंह को बहुत शोक हुआ और उन्होंने उनके लिए यह पद कहा—

सद्विद्या वहु साज, वांकी थो वांका वसु।
कर सूधी कविराज, आज कठै गो आसिया।
विद्या कुल विख्यात, राज काज हर रहसरी।
वांका तो विण वात किण आगल मन री कहां।

वांकीदास का डिंगल भाषा पर पूर्ण अधिकार था। उनकी कविता मुख्य कर वीर-रस की होती थी जो वहुत ही उत्तेजक व चित्ताकर्षक होती थी। ब्रज—भाषा में भी वे कविता करते थे। वे आशु कवि थे।

---

[1] कविराज बांकीदास का पौत्र मुरारदान साहित्य और सस्कृत का विद्वान और अच्छा कवि था। तत्कालीन जोधपुर नरेश महाराजा जसवंतसिंह दूसरे के नाम पर अलंकार का भाषा में 'जसवंत जसो भूषण' नामक वृहद ग्रन्थ रचा जो संस्कृत और हिन्दी में राज्य की ओर से छपकर वि० सं० 1954 में प्रकाशित हुआ। उन्होंने अपनी योग्यता आदि सदगुणों के कारण राज्य की ओर से कविराज, मेजिस्ट्रेटी, स्टेट कौंसिल की मेम्बरी का पद तथा भारत सरकार की ओर से महामहोपाध्याय की उपाधी तक प्राप्त की। एक बार उदयपुर नरेश महाराणा सज्जनसिंह (वि० सं० 1931) ने भी मुरारदान को लाखपसाव व जागीर आदि उदक में देकर सम्मानित करना चाहा। परन्तु मुरारदान जी ने यह सवैया कह कर उनसे मांफी चाही और उनसे भी दान नहीं लिया।

उन्होंने डिंगल (राजस्थानी) व व्रजभाषा में छोटे वड़े कोई 32 ग्रन्थ लिखे थे। उनकी फुटकर कविताएं और गीत भी अनगिनतहैं। उनके काव्य ग्रन्थ, काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा वालावख्स राजपूत चारण पुस्तक माला में "वांकीदास-ग्रन्थावली" नाम से तीन भागों में वि० सं० 1981–1994 में प्रकाशित हुए हैं—

पहले भाग में 1. सूर-छत्तीसी 2. सीह-छत्तीसी, 3. वीरवीनोद, 4. धवल पचीसी, 5. दातार वावनी, 6. नीति मंजरी और 7. सुपह छत्तीसी। दूसरे भाग में—1. वैसक-वार्ता, 2. मावड़िया मिजाज, 3. कृपण-दर्पण, 4. मोह-मर्दन, 5. चुगल-मुखचपेटिका, 6. वैस-वार्ता, 7. कुकवि-वत्तीसी, 8. विदुर-वत्तीसी (दरोगा कौम), 9. भुरजाल-भूषण और 10. गंगालहरी। तीसरे भाग में 1. जेहल जस जड़ाव, 2. कायर वावनी, 3. झमाल नख-शिख, 4. सुजस छत्तीसी, 5. संतोस वावनी, 6. सिद्धराव, 7. वचन विवेक पच्चीसी, 8. कृपण पच्चीसी, 9. हमरोट छत्तीसी और 10. स्फुट संग्रह।

वांकीदास इतिहास प्रेमी भी थे। उनकी "ऐतिहासिक बातों का सग्रह" वहुत ही महत्वपूर्ण है। इसमें कोई 3,000 वातें हैं। इसमें राजपूताना, मालवा, गुजरात, कच्छ आदि राज्यों के विषय की भी वातें हैं। राजाओं की वंशावलियाँ, युद्ध, जन्म व मृत्यु संवत् आदि जगह-जगह पर दिये हैं। इतिहास की खोज करने वालों के लिये यह वड़े काम की चीज है। ग्रन्थ ऐतिहासिक ज्ञान का एक वृहद-कोष सा है। राजपूताने की प्रत्येक रियासत के विषय में इसमें कुछ न कुछ सामग्री मिल जाती है। ऐसी ऐसी बातें मिलती हैं कि जिनके विषय में और किसी ग्रन्थ में वर्णन नहीं मिलता है। राजाओं के जीवन के साथ-साथ अनेक सरदारों तथा राजाओं के रिस्तेदारों और मुत्सद्दियों आदि के विषय में भी वहुत कुछ लिखा गया है। ये बातें विषयानुसार एक जगह वर्णित नहीं हैं लेकिन जगह-जगह लिखी गई हैं। मुसलमानों तथा जैनियों का इतिहास भी इसमें वहुत कुछ मिलता है।

अत: ऐतिहासिक क्रम और विषयों के अनुसार इन वातों को छांटने की वहुत आवश्यकता है।

महाराजा मानसिंह को इतिहास से वड़ा प्रेम था। अत: उस समय मिलने वाली वहियों, सरकारी कागज पत्रों,ख्यातों, सनदों,फरमानों आदि के आधार पर महाराजा ने बांकीदास की देख-रेख में जोधपुर के चारण जुगती दान व भैरूंदान वणसूर के सहयोग से राज्य का एक वहद् इतिहास चार

बड़ी-बड़ी जिल्दों में तैयार करवाया। कहते हैं कि मुत्सद्दियों ने मारवाड़ नरेशों द्वारा यवन बादशाहों को बेटियां दी जाने की बात, इस ख्यात में से हटा देने का निवेदन किया तो महाराजा ने उत्तर में कहा कि छोटी मोटी शादियों का ज़िक्र तो निकाल दिया जाय परन्तु जो सम्बन्ध शाही घराने के साथ हुए हैं उनका जिक्र अवश्य रहे क्योंकि उससे हमारे वंश का गौरव प्रगट होता है और हमारी पिछली संतान को यह स्मरण रहेगा कि जमीन के लिये क्या क्या कार्य करने पड़े हैं? बांकीदास द्वारा सम्पादित यह इतिहास (हस्तलिखित) वि० सं० 1600 के पूर्व का तो केवल दन्त-कथाओं के आधार पर ही लिखा गया है पर बाद का किसी हद तक ठीक है।

वि० सं० 1870 की भादों सुदि 8 और 9 (ई० सन् 1813 ता० 3 और 4 दिसम्बर) को जब पुष्कर (अजमेर) के पास मारवाड़ और जयपुर राज्य की सीमा पर गांव मरवा में जयपुर और जोधपुर के नरेशों के आपस के बैर मिटाने के लिये महाराजा जगतसिंह ने अपनी वहन का विवाह जोधपुर नरेश महाराजा मानसिंह राठौड़ के साथ तथा मानसिंह ने अपनी कन्या का विवाह जगतसिंह कछवाहा से किया था तब हिन्दी के प्रसिद्ध कवि पद्माकर और महाकवि बांकीदास के बीच काव्य-चर्चा भी हुई थी। दोनों कवियों ने अपने-अपने राजवंशों की प्रशंसा में ये दोहे कहे। बांकीदास ने राठौड़ वंश की तारीफ में कहा–

ब्रज देशां, चन्दन वड़ा, मेरु पहाड़ा मौड़।
गरुड़ खगां, लंका गडां, राजकुलां राठौड़॥

अर्थात् देशों में ब्रज, वृक्षों में चन्दन, पहाड़ों में सुमेरु, पक्षियों में गरुड़, किलों में लंका और राजकुलों में राठौड़ श्रेष्ठ हैं। इस पर कवि पद्माकर ने उत्तर दिया—

ब्रज वसावन गिरि नख धारण चन्दन वास सुभास।
लंका लेवन गरुड़ चढ़न रजधारी रघुनाथ।

महाकवि बांकीदास ने राठौड़ राजवंश की समता संसार की सबसे श्रेष्ठ वस्तुओं से की है लेकिन पद्माकर ने कहा कि यह वस्तुएं तो कछवाहों के पूर्वज रघुनाथ (राम) द्वारा ही बनाई गई हैं। वास्तव में इस समय पद्माकर ने बाजी मार ली।[1]

---

[1] प्रिलिमिनरी रिपोर्ट ऑन दी आपरेशन इन सर्च आफ मन्युस्क्रिप्ट बार्डिक क्रानिकल्स (महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री सी० आई० ई०, बंगाल ऐशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता) ई० सन् 1913, पृष्ठ 10।

ख्यातकार मुंहता नैणसी

ख्यातकार बांकीदास आसिया

यह हम पहले ही कह चुके हैं कि बांकीदास की बातों को ऐतिहासिक क्रम से रखना बहुत कठिन है। यहां हम उनकी बातों को उन्हीं के अनुक्रम से प्रथम बार साहित्य संसार के सामने रख रहे हैं, इससे उस महाकवि की विद्वता, विद्यारसिकता और प्रतिभा का प्रकाश होगा। ये बातें इस प्रकार हैं—

।। ओम श्री गणेशाय नमः ।।

।। अथ राजपूतांरी ख्यातरी फुटकर बातें लिख्यते ।।

1—परमार राजा श्रीहरस जिणरो वड़ो बेटो मुंज, छोटो बेटो सिन्धुराज[1] रो भोज। वातः करणाटक रो राजा तेलपदेव जिणां मृणालवती वहनरा कहा सूं घर घर भीख मंगाय मुंज नूं सूली दियो। केई कहै विकमार्क नूं साल वाहण मारियो। केई कहै समुद्रपाल जोगी मारियो।

2—चहुआण गौगाजी री मां वाछलदे, पिता जीवराज, घोड़ो नीलोत हरद देवरो।

3—कूंभारी मोती राणा भीमसिंह रै मरजीरी खवास है।

4—राणा खेतारे मेदनीमल खाती री बेटी करमां खातण खवास हुती, जिणरा बेटा चाचा मेरो।

5—सांगो राणा दस करोड़ी बाजतो, लाख घोड़ो चाकरी में रहेतो।

6—वस्तुपाल ते सठ जंग जीनो। मोजूदीन पातसारी फोज आवूरी घाटी में कतल कीनो जद आबूरो धणी परमार धारावरष हुतो। वस्तुपाल धोलपुर का री राजा विरदमल वालारो मंत्री हुयो।[2]

---

[1] यह मालवे के परमार राजा वेरीसिंह का पुत्र था। इसका ज्ञात समय वि० सं० 1029 है।

[2] यह गुजरात की राजधानी अनहिलवाड़ा पाटन (गायकवाड़) का पोरवाड़ महाजन था और गुजरात के धोलका प्रदेश के सोलंकी (वघेल) राणा वीर धवल का मन्त्री था। इसके छोटे भाई तेजपाल ने वि० सं० 1287 (ई० सन् 1231) में करोड़ रुपया लगा कर आबू पहाड़ पर संगमरमर का जैन मन्दिर बनवाया जो कारीगरी व सुन्दरता में ससार भर में अनुपम है।

7—दहीथली बारै गांवी सूं त्रिभु का पाल रे हती। इण रे बेटो कुमारपाल अठारे देशा रो राज कियो।

8—अणहल ग्वालेरा कहणा सूं बन में वनराज चावड़ो नगर बसायो। नांव अणहलपुरो पाटण। मुसलमान पीरान पाटण कहै।

9—सुगजी में पड़ियो थान करण कज सू उतरियो विक्रम माथे धारियो थान देवता री वर हुवो मालवा में दुकाल पड़े नहीं।

10—नागपुर रा धणी बड़ा रघूजी, ज्यांरै तीन बेटा हुवा-जानूजी, मूंधाजी, सोवाजी।

11—मूंधाजी रा बेटा तीन-रघुजी, चिमना जी बापूजी, मानिया बापूजी।

12—रघुजी नूं जानूजी खोलै लिया। जानूजी री राणी दरियाबाई।

13—सोवाजी खोलै उथामण ने फौज ले आया। जंग में मूधाजी रे हाथ रो धमाको लूटो हाथी चढिया महावत नूरमोहमद रा कहसूं सोवाजी रे गोली लागी। हाथी रै होदै खेत रहिया।

14—चित्तोड़ भुवणसी राणो कहाणो। पैला चीत्तोड़ रावल कही जतां। भुवणसी रो राणो भीमसी।

15—पेइरा, डूंगर माथै राव रिड़मलजी चाचा मेरा नूं मार कुंभानु चित्तौड़ माथे राणा रो टीको दियो।

16—पड़ियार नाहड़राय मंडोवर गढ़ करायो। पुसकरजी बंधायो।

17—पड़ियारां कनै सूं रायपाल धूहड़ोतन मंडोवर लीयो छूट गयो।

18—ईंदो सूरे रो बेटो नाहड़रावजी उरे आठ पीढीया हुवो जिणरै वंस रा ईंदा कहावे।

19—भीम लिया रै बेटै ईंदै टोहै रावजी चूंड़ाजी नू मंडोवर लेदियो।

20—ईंदो रो प्रधान हेमो माली रावजी चूंडाजी नूं मदत में हो।

21—कासी में उदैपुररा राणारी करायोड़ी जायगा खालसैपुरो बाजे है। बून्दी रावजीरा करायोड़ा महल कासीमें राज मंदिर कहावे।

हाड़ रो वगीचो कासी में है, कासी में कछवाहे मान महल करायो, उठे मान मंदिर कहावै ।

22—विक्रमार्क अगनी वेताल दोय सोना रा पोरसा दिया था जिणसूं जगन अन्हण कियो हो ।

23—कुमारपाल राजरखी चवदेसौ चमालीस जिन मंदिर कराया ।

24—बूंदी अजै राव राजा भावसिंहजीरी आण कही जै ।

25—राजा सगर पुत्रां सूं धापो नहीं ।

26—नदी गोमती राणो ।.......

27—मानजी जता रांजविलास नावे रूपक राणा राजसिंवरो वणायो ।

28—रावल मलीनाथ जसड़ा रो भाणजा हा ।

29—म्हैवा रो गांव दुधुओ जठै वालो वघेरा में रावत मेरो ।

30—गांव न जिणरी बेटी राणी रूपादे वाजा परमारां भीले । अर भुदयासी भील मरिनल होयो। भिलड़ी मर दमयन्ती हुई। सन्यासी मरि हंस हुवो ।

31—डूंगरपुर रो धणी रावल उदैकरणजी सांगा राणा री मदत सीकरी काम आयो । कुंवर जगमाल ध.वां उपड़ियो । उणरै वंसरा वाँसवाला (वांसवाड़ा) रा रावल ।

32—चुंडावत जगो सिघावत वागड़ में चहुआण मारीयो ।

33—जैमल रायमलोतनूं मार ,सांगा रायमलोतनूं उबार वीदो जैतमालोत सेवंत्री काम आयो ।

34—पृथ्वीराज, जेमल, सांगो अै तीनूं राणा रायमल रा कंवर नै सालो काम आया, पछे काठलै रो परगनों दवायो काकै सूरजमल खेमावत उगमसी भाटी राणी रुपादे रो गुरु ।

35—इन्द्रसिंह नागोर रो कोटवाल रुघो मोहिल कीयो । विणजारी छती रुधारी खवास(उपपन्ति)जिणरा घाघरारा नाडा मोहर वांधी रहती ।

"वांकीदास री ख्यात" हमारी प्रकाशन संस्था द्वारा हिन्दी में शीघ्र ही प्रकाशित की जा रही है ।

महाकवि चन्द बरदाई

स्वतन्त्र भारत के अन्तिम आर्य सम्राट पृथ्वीराज चौहान के राजकवि चंद बरदाई एक इतिहास लेखक, कवि और योद्धा के नाते सर्व परिचित है। आप सम्राट के अन्तरंग मित्र तथा सामन्त भी थे। जाति से ब्रह्मभट्ट थे और इनका गोत्र जगात था। इनके गुरु का नाम गुरुप्रसाद और पिता का नाम वेणु था। इनके पूर्वज अजमेर के चौहानों के परम्परागत राजभट्ट थे। बाल्यावस्था से ही इनकी घनिष्टता पृथ्वीराज से होगई थी। बड़े होने पर इनको सर्व प्रकार का आदर सम्राट के दरबार में मिला था।

महाकवि चन्द बरदाई का जन्म संवत् वही है जो महाराजा पृथ्वीराज चौहान का है, ऐसा रासोकार का मत है—

"कइ दीह उपज, एक दीह समायकम"

आधुनिक खोज के अनुसार पृथ्वीराज का जन्म वि० सं० 1221 (ई० सन् 1164) में हुआ था। उपर्युक्त कथन के अनुसार चन्द का जन्म वि० सं० 1221 और देहांत वि० सं० 1249 (ई० सन् 1192) माना जा सकता है जो कि सम्राट पृथ्वीराज का भी है। चन्द ने दो विवाह मेवा और राजोरा नामक स्त्रियों से किये, जिनसे इनके दस पुत्र और एक कन्या हुई। इनका द्वितीय पुत्र जालण (झलचन्द) सबसे योग्य और प्रतिभा सम्पन्न था। चन्द को भगवती महादेवी जालंधरी का इष्ट था और कहा जाता है कि इनके कारण ये अदृष्ट काव्य कर सकते थे, जिनसे सभाजीत होने का इन्हें अमर यश मिला।

चन्द, वीर और साहसी योद्धा के अतिरिक्त एक प्रकाण्ड विद्वान भी थे। षड भाषा, व्याकरण, छंद, संगीत, वैद्यक आदि का उन्हें पूर्ण ज्ञान था।

इन्होंने महाराजा पृथ्वीराज की सभा को सुशोभित कर महाराजा की प्रशंसा में बहुत कुछ काव्य-रचना की। इन्हीं के रचे "पृथ्वीराज रासो" काव्य से इनका नाम देशव्यापी हो गया है। परन्तु डाक्टर ज्यार्ज बूलर ने जब ई० सन् 1876 (वि० सं० 1933) में संस्कृत ग्रन्थों की खोज करते काश्मीर में ताड़ पत्रों पर लिखित "पृथ्वीराज विजय काव्य" की एक प्रति खोज निकाली तब उसमें चन्द का नाम न पाया तो इतिहासज्ञों को चन्द के अस्तित्व में सन्देह होने लगा। इस संस्कृत काव्य की घटनाएं सभी इतिहास सम्मत है। उसमें पृथ्वीभट्ट नामक एक राजकवि का उल्लेख है। रासोकार का जब अस्तित्व ही नहीं, तब "पृथ्वीराज रासो की रचना कि रचना किस चन्द द्वारा हुई, यह समस्या बहुत दिनों तक विद्वानों को उलझाती रही। पर इस उलझन को इतना महत्व देना ठीक नहीं है। प्रथम तो डाक्टर बूलर की प्रति खण्डित है। फिर जहां सम्राट का वर्णन आरम्भ होता है वहीं से वह अपूर्ण है। इससे आशा की जा सकती है कि शेष प्रति के अंशों में चन्द का वर्णन हो भी सकता है। दूसरा यह है कि जैन प्रबन्धकों में चन्द का उल्लेख बराबर मिलता है। कुछ लोग "पृथ्वीराज विजय काव्य" के पांचवें सर्ग में जिस चन्द्रराज का नामोउल्लेख है, उसी को चन्द मानते हैं और अपने पक्ष में कश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र (11वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध) की साक्षी देते हैं जिसने एक चन्द्र कवि को गिनाया है।

उपर्युक्त चर्चा पर अन्तिम निर्णय देना कठिन है। इधर पुरातत्वज्ञ आचार्य श्री मुनि जिनविजय जी ने "पृथ्वीराज प्रबन्ध (पुरातन प्रबन्ध संग्रह, सिंघवी जैन ग्रन्थमाला का द्वितीय भाग) प्रकाशित किया है। इस प्रबंध के आरम्भ में कुछ प्राचीन संस्कृत गद्य में इतिहास है और चार प्राकृत भाषा के पद्य हैं। इनमें तीन पद तो भाषा में हेर फेर के संग आधुनिक "रासो" में मिले हैं। इन पदों में चन्द कवि का नाम है। पदों की भाषा 13 वीं शताब्दी के आस पास की है। डाक्टर सुनितिकुमार चटर्जी भी यही मत देते हैं। महामहोपाध्याय डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा इन पदों को अस्वीकार नहीं करते थे, पर वे इन पदों को स्फुट पद ही मानते थे, किसी ग्रन्थ का अंश नहीं। खैर, कुछ भी हो चन्द कवि के अस्तित्व में सन्देह नहीं और इतना और प्रमाणित हो जाता है कि उसने महाराजा पृथ्वीराज चौहान (तीसरे) का यशोगान किया है।

अब स्वभावतः प्रश्न उठता है कि क्या चन्द ने "पृथ्वीराज रासो" की रचना की। इस प्रश्न पर हम हमारे अगले स्वतन्त्र लेख में विचार करेंगे। यहां पर पृथ्वीराज के राजकवि चन्द के वंश पर कुछ लिख कर उसके जीवन चरित्र को समाप्त करेंगे। रासो की कथा के अनुसार जब चन्द गजनवी गया तब वह रासो की अपूर्ण रचना को, अपने चौथे पुत्र जाल्हण को सौंप कर गया।

आदि अन्त लागि वृत्तित मन,
ब्रन्नि गुनी गुनराज।
पुस्तक जालृण हत्त दे।
चले गज्जन नृप काज॥

"पृथ्वीराज रासो" के पूर्ण करने का श्रेय सुपुत्र जलहण को ही दिया जाता है। रासो का आरम्भ चन्द ने अपनी स्त्री राजोरा (गौरी) के प्रश्न का समाधान करते किया है। वह प्रश्न करती है और चन्द उसका उत्तर देता है।

महाकवि के वंशधरों पर इतिहासज्ञों ने बहुत ही कम ध्यान दिया है। यदि रासो की प्रामाणिकता को सिद्ध और असिद्ध करने के चक्कर में न पड़ कर इनके वंशजों से सामग्री प्राप्त की जाती तो इतिहास की बहुत सी घटनायें लुप्त प्रायः न होतीं। हाँ! बंगाल रायल ऐशियाटिक सोसायटी कलकत्ता के उप प्रधान सुप्रसिद्ध विद्वान महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री (भट्टाचार्य) सी० आई० ई०, एम. ए., ने ई० सन् 1909 से ई० सन् 1912 तक तीन चार बार, कई मासों का दौरा, राजपूताने में प्रचलित भाट बन्दी जन, चारणों की वीर गाथाओं, ऐतिहासिक कृतियों तथा शिलालेखों की खोज के लिये, करके महाकवि चन्द बरदाई के वंशज पंडित नेनूराम ब्रह्मभट्ट से जोधपुर में भेंट की और उन्हें विद्वद परिषदों से निमन्त्रित कराकर उनके भाषण भी कलकत्ता में कराये थे। शास्त्रीजी ने लिखा कि "उनके पूर्व के पुरुष ग्वालियर राज्य के अन्तर्गत एक ग्राम में रहते थे। भक्त सूरदास के भाई वुद्धचन्द और देवचन्द अपनी दादी लक्ष्मीदेवी को लेकर जोधपुर राज्य के प्रसिद्ध नगर नागोर (मारवाड़) में आये थे। नेनूराम के पिता वृद्धिचन्द नागोर छोड़कर बीकानेर में आ बसे थे। वहां महाराजा सरदारसिंह राठौड़ ने आपको बहुत सम्मानित

महाकवि चन्द् बरदाई
गुणचन्द
झल्लचन्द
×
× (दस पुत्र)
सीतचन्द
वीरचन्द (हमीररासो)
हरिचन्द
रामचन्द
विष्णुचन्द
उद्धरचन्द
रूप चन्द
बुद्धचन्द
देवचन्द
सूरदास
खेमचन्द
गोविंदचन्द
जयचन्द
मदनचन्द
शिवचन्द
बलदेवचन्द
चौथचन्द
बेनीचन्द
गोकलचन्द
वसुचन्द
लेखचन्द
कर्णचन्द
गुणागङ्गचन्द
मोहनचन्द
(आगे देखिए)
(आगे देखिए)
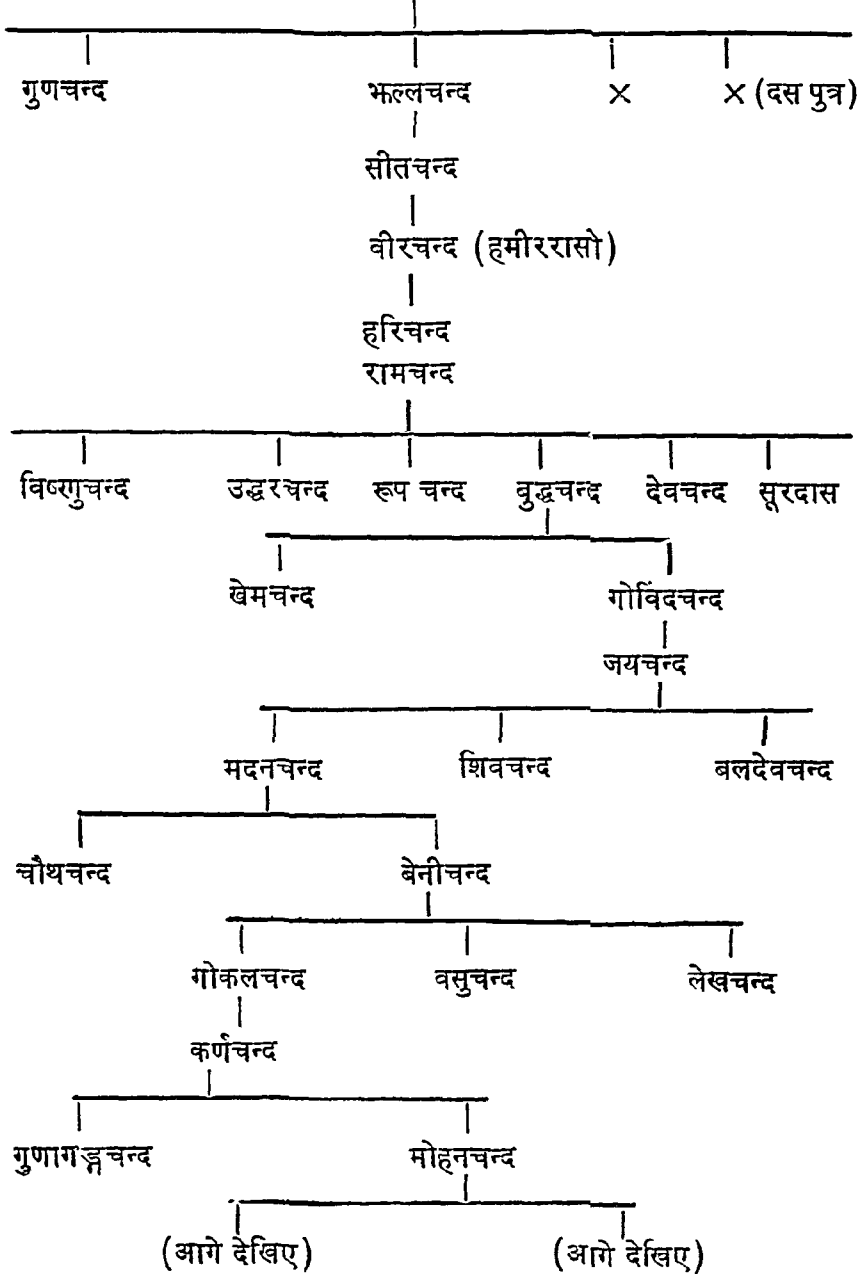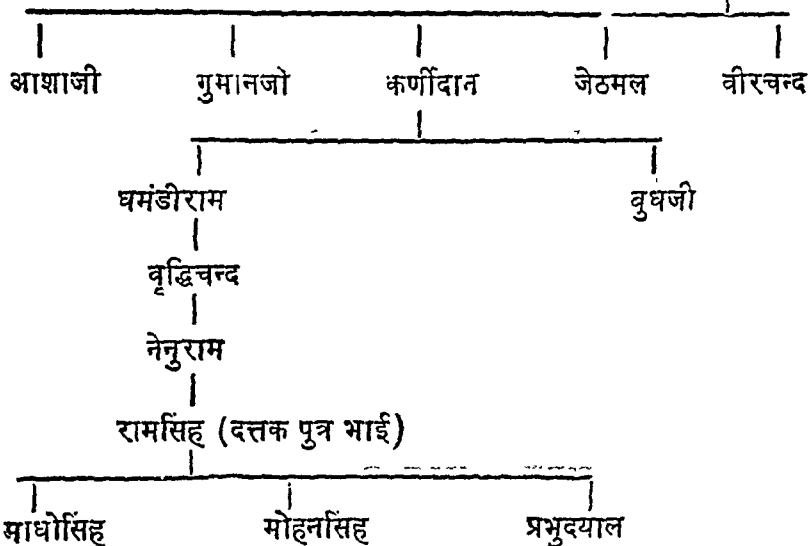
किया था। इसके सिवाय उदयपुर (मेवाड़) के हिन्दुआ-सूर्य महाराणा शम्भूसिंह ने भी "लाखपसाव" उपहार देकर आपका समादर किया था।

उनके जीवन का अधिकतर भाग इन्हीं दो स्थानों में बीता था। वि० संवत् 1960 (ई० सन् 1903) में 120 वर्ष की आयु में वे लोकान्तरित हुए थे। नेनूरामजी महाकवि चन्द बरदाई की 26वीं पीढ़ी में थे। वे इतिहास के अच्छे जानकार थे और "पृथ्वीराज-रासो" के छन्दों का विधिवत पाठ करने में बड़े प्रवीण थे। यद्यपि उनकी वृद्धावस्था थी परन्तु फिर भी वे वीर रस के छन्द पढते थे तो सुनने वाले के रोंगटे खड़े हो जाते थे और उनके मस्तक पर पसीने की बूंदे छलकने लगती थीं। राजपूताना प्रान्त में शायद ही कोई रासो उनके समान पढ़ने वाला होगा। पुरातत्व विषयक खोज की भी उन्हें बड़ी ही धुन थी। जोधपुर राठौड़ राजवंश के आदि पुरुष राव सीहाजी और उनके पौत्र राव धूहड़ राठौड़ के बहुमूल्य और महत्वशाली शिलालेख वि० सं० 1330 तथा वि० सं० 1366 के उन्होंने ही वि० सं० 1967 के वैशाख मास में खोज कर निकाले थे और इस तरह जोधपुर के वर्तमान राठौड़ राजवंश के इतिहास की आदि श्रृंखला का पता लगाने का श्रेय इन निस्पृह भट्टजी को ही है। उनकी योग्यता की सराहना सर जोन मार्शल (डाईरेक्टर जनरल आर्कियालाजी), डा० डी० आर० भांडारकार, पं० हरप्रसाद शास्त्री, पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा और मुंशी देवीप्रसाद मुन्सिफ आदि ऐतिहासिक विद्वानों तक ने की है।[1] मैंने उनके पास पृथ्वीराज रासो की दो प्रतियां भी देखी थीं। उनमें से एक पर सं० 1455 वरषे शरदऋतौ आश्विनमासे शुक्ल पक्षे उदयात घटी 16 चतुर्थी दिवसे लिखत" लिखा था उसमें से कुछ अंश महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने अपनी रिपोर्ट में प्रकाशित भी किया था। ब्रह्मभट्ट नेनूरामजी का देहान्त कोई 70 वर्ष की आयु में मंडोर (जोधपुर) में ई० सन् 1930 में हुआ था। उनका वंशवृक्ष महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री सी० आई० ई० ने आज से 42 वर्ष पहले, ई० सन् 1913 (वि० सं० 1970) में बंगाल रायल ऐशियाटीक सोसायटी के जरनल (पत्रिका) और राजपूताना सम्बन्धी अपनी रिपोर्ट में प्रकाशित किया था—(देखो पीछे वंशवृक्ष)।

चन्द बरदाई की वंशावली अष्टछापी सूरदास की साहित्य लहरी के 118 वें पद में भी है, पर आधुनिक शोध उस पद को लहरी के टीकाकार सरदार कवि द्वारा रचित मानते है।

---

[1] देखिये इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, भाग 40 पृ० 141, जून ई० सन् 1911।

उपरोक्त घटनाओं से स्पष्ट है कि महाकवि चन्द, महाराजा पृथ्वीराज चौहान का समकालीन था और उसने ही "पृथ्वीराज रासो" का निर्माण किया था। हां, वह ग्रन्थ आरम्भ में छोटा था। जितना इस समय मिलता है उतना बड़ा नहीं था। लगभग 3-4 हजार श्लोकों का था। जैसा कि जोधपुर निवासी ब्रह्मभट्ट नेनूरामजी स्वयं कहा करते थे। पीछे से कवियों ने समय समय पर इसमें वृतांत बढा दिये। उन लोगों को इतिहास का इतना परिज्ञान नहीं था कि इन वतान्त को लिखने से ग्रन्थ में विरोध आवेगा और ऐसा हुआ भी है। महाभारत के विषय में भी कहा जाता है कि मूल महाभारत 24 हजार श्लोकों का था परन्तु आज कल उसमें एक लाख श्लोक मिलते हैं।

—:o:—

17

क्या जयचन्द्र देशद्रोही था ?

प्रचलित दन्तकथाओं तथा पृथ्वीराज रासो के आधार पर कन्नौज पति महाराजा जयचन्द्र गाहड़वाल के उपर जातिद्रोह, धर्मद्रोह और देशद्रोह इत्यादि के लांच्छन लगाये जाते हैं। किसी भी महान् व्यक्ति पर केवल तुच्छ तथा क्षुद्र किम्वदन्तियों के आधार पर लांछन लगाना-विना उन लांछनों को प्रमाणित सिद्ध किये—हम महापाप समझते हैं। इसलिये हम निष्पक्ष होकर महाराजा जयचन्द्र पर लगाये हुये अभियोग की विचारपूर्ण

पड़ताल करते हैं। हमने अपने "मारवाड़ राज्य के इतिहास" में भी इस विषय में विस्तृत पड़ताल करने की इच्छा का उल्लेख किया था और वहाँ पर संक्षेप में इन बातों का दिग्दर्शन भी कराया था।[1]

हम सर्व प्रथम जयचन्द्र पर महाराजा पृथ्वीराज चौहान के विरूद्ध मुसलमानों की सेना को निमन्त्रण करना और इस प्रकार निमंत्रित मुसलमानों द्वारा अन्तिम हिन्दू साम्राज्य को नष्ट कराने के अभियोग पर विचार करते हैं। यह अभियोग पृथ्वीराज रासो से आधार पर किया गया है परन्तु वह निर्मूल प्रमाणित हुआ है, जैसा कि नीचे के कुछ प्रमाणों से प्रकट होगा:—

1—पृथ्वीराज रासो में लिखा है कि दिल्ली के तंवर राजा अनंगपाल ने अपनी वृद्धावस्था में दिल्ली का राज्य अपने नाती (दौहित्र) चौहान राजा पृथ्वीराज (तीसरा) को देकर, तप करने को बद्रिकाश्रम चला गया और इस प्रकार दिल्ली पर चौहानों का अधिकार हुआ[2]। परन्तु यह सब कल्पित है क्योंकि उस समय दिल्ली में तंवर अनंगपाल का राज्य नहीं था। देहली का राज्य तो अन्तिम हिन्दू सम्राट महाराजा पृथ्वीराज चौहान (तीसरा) के पांचवें पूर्वाधिकारी महाराजा विग्रहराज (वीसलदेव) चौथे ने ही अपने महाराज्य (अजमेर) के आधीन कर लिया था जैसा कि देहली में अशोक के धर्मस्तम्भ, जिसको अब फीरोज़शाह की लाट कहते हैं—पर धर्माज्ञाओं के नीचे खुदे, उस (वीसलदेव) के वि० सं० 1220 वैशाख सुद 15 (अप्रेल 20 ई० सन् 1163 शनिवार) के शिलालेख से पाया जाता है[3]। उस समय से ही दिल्ली चौहानों के महाराज्य का एक सूबा था[4] और उसकी राजधानी अजमेर में ही थी।

2—रासो के कथनानुसार पृथ्वीराज चौहान की माता का नाम कमला (अनंगपाल की पुत्री) है परन्तु पृथ्वीराज के समय में बने "पृथ्वीराज

---

[1] देखो "मारवाड़ राज्य का इतिहास", द्वितीय संस्करण पृ० 572, दिसम्बर ई० सन् 1925।

[2] पृथ्वीराज रासो, दिल्लीं दान प्रस्ताव, 18 वां समय।

[3] इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, भाग 19 पृ० 219।

[4] दिल्ली का गौरव तो मुसलमानी समय में ही बढ़ा है।

विजय महाकाव्य" में पृथ्वीराज की माता का नाम कर्पूरदेवी लिखा है और उसको त्रिपुरी (चेदि अर्थात् जबलपुर के आस पास के प्रदेश की राजधानी) के हैहय (कलचुरि) वंशी राजा तेजल (अचलराज) की पुत्री बताया गया है। वि० सं० 1460 के आस पास बने हम्मीर महाकाव्य (सर्ग 2) में भी उसका नाम कर्पूरदेवी लिखा है[1]। ऐसे ही वि० सं० 1635 के लगभग बूंदी राज्य में बने सुर्जन चरित-महाकाव्य (सर्ग 9) में भी कर्पूरदेवी अंकित है।

3—रासोनुसार पृथ्वीराज का प्रथम विवाह ग्यारह वर्ष की आयु में मंडोवर (मारवाड़) के पड़िहार राजा नाहरराव की कन्या से होना भी मनगढ़न्त है। क्योंकि मंडोवर का नाहरराव पड़िहार तो पृथ्वीराज चौहान से 500 वर्ष पहले विक्रमी संवत् 700 के आस पास हुआ था[2]। जैसा कि उसके दसवें वंशधर राजा बाउक के वि० सं० 894 चैत्र सुदी 5 (मार्च 15 ई० सन् 837 गुरुवार) के शिलालेख से पाया जाता है। यह लेख सं० 1948 के पौष मास में जोधपुर शहर के परकोटे (मेड़ती दरवाजा) की एक दीवार में लगा हुआ महामहोपाध्याय कविराजा मुरारदान को मिला था।[3] वि० सं० 1200 से पहले ही मंडोवर का राज्य पड़िहारों के हाथ से निकल कर चौहानों के अधिकार में चला गया था और पृथ्वीराज के समय के आस पास तो नाडोल (मारवाड़) के चौहान रायपाल का पुत्र सहजपाल मंडोवर पर राज्य करता था जैसा कि वहीं से मिले हुए एक टूटे हुए लेख से प्रकट है[4]।

---

[1] ना० प्र० प० भाग 1 अङ्क 4 में ओझा जी का लेख पृ० 406, मास माघ वि० सं० 1977 (फरवरी ई० सन् 1921)।

[2] यदि राजा बाउक के निश्चित् सं० 894 से प्रत्येक राजा का समय औसत हिसाब से 20 वर्ष माना जाय तो स० 700 के आस पास नाहरराव पड़िहार का राज्यकाल निश्चित् होता है।

[3] J. A. S. 1894 pp. 4—9; Epigraphia Indica Vol. 18. pp. 95–97.

[4] Arch. Survey of India, 1909–10, pp. 102–103.

कन्नौजपति जयचन्द्र

महाकवि चंद वरदाई

4—आबू के परमार राजा सलख की पुत्री और तेजराव की बहिन इच्छनी से पृथ्वीराज का विवाह होना भी गपोड़ेबाजी है क्योंकि आबू पर सलख या जैतराव नाम का कोई पंवार राजा नहीं हुआ है। पृथ्वीराज चौहान (तीसरे) ने वि० सं० 1236 से सं० 1249 विक्रमी तक राज्य किया और वि० सं० 1220 से 1276 तक आबू का राजा धारावर्ष था, जिसके कई शिलालेख मिले हैं।

5—रासोकार ने लिखा है कि अपने पिता सोमेश्वर का गुजरात के सोलंकी राजा भीम द्वारा मारे जाने का वैर लेने के लिये पृथ्वीराज ने गुजरात पर चढ़ाई कर भीमदेव (भोला भीम) को मारा परन्तु भीमदेव तो वि०सं० 1235 में निरी बाल्यावस्था में गद्दी पर बैठा और63वर्ष तक जीवित रहा।[1] इतनी बाल्यावस्था में वह सोमेश्वर को नहीं मार सकता था और न पृथ्वीराज ने चढाई कर उसे मारा ही। संवत् 1296 मंगसर वदि 14 (दिसम्बर 25 ई० सन् 1239 रविवार) के भीमदेव के ताम्रपत्र से भी प्रकट है कि वह पृथ्वीराज की मृत्यु के 50 वर्ष पश्चात् भी विद्यमान था।[2]

6—पृथ्वीराज की बहिन पृथा का विवाह मेवाड़ के समरसिंह गहलोत के साथ होना और इस नाते से समरसिंह का पृथ्वीराज के पक्ष में लड़ता हुआ शहाबुद्दीन गोरी के साथ की लड़ाई में मारा जाना भी कपोल कल्पना मात्र है। क्योंकि समरसिंह (समरसी) पृथ्वीराज के बहुत समय बाद हुआ था और उसका अन्तिम शिलालेख सं० 1358 की माघ सुदी 10 (जनवरी 10 ई० सन् 1302 बुद्धवार) का महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा को वि० सं० 1977 में मिला है[3]। इससे पृथ्वीराज की मृत्यु से 109 वर्ष पीछे तक तो समरसी अवश्य जीवित था।

7—कन्नोजपति जयचन्द्र और पृथ्वीराज चौहान का पारस्परिक युद्ध, राजसूययज्ञ और जयचन्द्र की पुत्री संयोगता के स्वयंवर की कथा भी रासो के सिवाय प्राचीन ग्रन्थों व शिलालेखों में देखने में नहीं आई है। जयचन्द्र

---

[1] प्रबन्ध चिन्तामणी पृष्ठ 249; "फार्ब्स कृत रासमाला"; दूगड़जी कृत पृथ्वीराज चरित पृ० 62 वि० स० 1956।

[2] इण्डियन ऐन्टिक्वेरी भाग 6 पृ० 207।

[3] यह शिलालेख उदयपुर के अजायबघर में सुरक्षित है।

एक बड़ा दानी राजा था। उसके 14 दान-पत्र (ताम्र पत्र) अब तक मिले हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि वह समय समय पर भूमिदान किया करता था। यदि वह राजसूय यज्ञ करता तो ऐसे महत्वपूर्ण प्रसङ्ग पर तो वह कई गांव दान करता परन्तु इस सम्बन्ध का न तो अब तक कोई दान-पत्र मिला है और न किसी शिलालेख या प्राचीन पुस्तक में उसका उल्लेख है। पृथ्वीराज चौहान के समय में बने "पृथ्वीराज विजय" में या वि० सम्वत् 1440 के लगभग बने हम्मीर महाकाव्य में (जिसमें पृथ्वीराज का विस्तृत वर्णन है) या रम्भामञ्जरी नाटिका में (जिसका नायक स्वयं जयचन्द्र है) इन घटनाओं का कहीं पता नहीं है। इसलिये यही अनुमान होता है कि वि० सम्वत् 1460 तक तो ये कथायें गढ़ी भी नहीं गई थीं।

8—पृथ्वीराज रासो में लिखा है कि "सुल्तान शहाबुद्दीन गोरी रणक्षेत्र में पृथ्वीराज को कैद कर गज़नी ले गया और वहां उसने उसकी दोनों आंखें फुड़वा डाली। बाद में चन्द बरदाई योगी का भेष कर गज़नी (काबुल) पहुँचा और उसने सुल्तान से मिलकर उसको पृथ्वीराज की तीरन्दाज़ी देखने को उत्तेजित किया। पृथ्वीराज ने चन्द के सङ्केत से बाण चला कर सुल्तान का खातमा किया। फिर चन्द ने अपने कमर से कटार निकाल कर उससे अपना पेट चाक किया और फिर वही कटार राजा को दे दी। पृथ्वीराज ने उसे अपने कलेजे में भोंक ली।[1] इस प्रकार सम्वत् 1158 की माघ सुदी 5 को शहाबुद्दीन, पृथ्वीराज और महाकवि ब्रह्मभट्ट चन्द बरदाई की मृत्यु हुई।" यह घटनाएँ भी सत्य नहीं हैं। वास्तव में पृथ्वीराज सम्वत् 1249 (ई० सन् 1192) में भारत में ही सुल्तान के साथ के युद्ध में मारा गया था और शहाबुद्दीन जब गक्खरों को हरा कर लाहोर से गज़नी जाता हुआ मार्ग में धमेक के पास नदी के किनारे, बाग में मगरिब की नमाज पढ़ रहा था तब वह गक्खरों के हाथ से हिजरी सन् 602 ता० 2 शाबान (वि० सं० 1263 चैत्र सुदी 3 मार्च 15 ई० सन् 1206 मङ्गल) को मारा गया था।[2]

---

1 नवीन खोज से पृथ्वीराज का जन्म वि० सं० 1221 के आस-पास माना गया है और वि०सं० 1236 में वह गद्दी पर बैठा तथा वि०सं०1249 में लगभग 39 वर्ष की आयु में वीरगति को प्राप्त हुआ था।

2 पृथ्वीराज चरित्र पृ० 80 ई० सन् 1899।

9—रासोकार का कथन है कि "रैणसी ने अपने पिता पृथ्वीराज, चौहान की मृत्यू का समाचार पाकर बदला लेने को लाहौर के मुसलमानों पर चढ़ाई कर उन्हें वहा से भगा दिया। इस पर शहाबुद्दीन के उत्तराधिकारी कुतुबुद्दीन ने चढ़ाई करके रैणसो को मार डाला और दिल्ली से आगे बढ़ कर कन्नौज के राजा जयचन्द्र पर धावा किया। जयचन्द्र ने वीरता से मुकाबला किया पर वह रणक्षेत्र में काम आया और इस प्रकार मुसलमानों की विजय हुई।" यह बात भी झूठी है। स्वयं शहाबुद्दीन नें चढ़ाई करके वि० सं० 1250 (ई० सन् 1194) में जयचन्द्र गहरवार को मारा था और पृथ्वीराज के पुत्र का नाम गोविन्दराज[1] था जिसे शहाबुद्दीन ने अजमेर का राजा बनवाया था परन्तु सुल्तान का मातहत हो जाने से पृथ्वीराज के भाई हरिराज[2] ने उससे अजमेर छीन लिया और इस पर, गोविंदराज रणथम्भोर में जा बसा।

10—पृथ्वीराज रासो में कहीं भी इस वात का कोई उल्लेख नहीं मिलता है कि जयचन्द्र ने शहाबुद्दीन को पृथ्वीराज चौहान पर आक्रमण करने का निमन्त्रण दिया या षड्यन्त्र रचा और न उस समय की लिखी फारसी तवारीखों में इस षड्यन्त्र का उल्लेख है। रासो में स्थान स्थान पर यह प्रकट होता है कि पृथ्वीराज के सेनापति ने सुल्तान से मिल कर उसका नाश किया।

इन वृतान्तों को देखते पृथ्वीराज रासो का कोई ऐतिहासिक मूल्य नहीं रहता है परन्तु रासो ग्रन्थ पृथ्वीराज के समय में ही वना था क्योंकि रासो का कर्त्ता पृथ्वीराज के समय में था और उसीने इस ग्रन्थ का निर्माण किया था। वह ग्रन्थ छोटा था। जितना इस समय मिलता है उतना बड़ा नहीं था। लगभग 3 या 4 हजार श्लोक का था जैसा कि महाकवि चन्द का वंशधर जोधपुर निवासी ब्रह्मभट्ट नेनूराम कहा करता है। पीछे से कवियों ने समय समय पर इसमें वृतान्त बढ़ा दिये। उन लोगों को, इतिहास का इतना परिज्ञान नहीं था कि इन वृतान्तों को लिखने से पूर्वापर

---

[1] हम्मीर महाकाव्य श्लोक 24 सर्ग 4। फारसी वर्णमाला की अपूर्णता के कारण उसमें गोविंदराज का नाम "गोवा" या 'गोरा" पढ़ा जाता है।

[2] J. R. A. S. 1913. Pp. 270-271. पृथ्वीराज विजय; हम्मीर महाकाव्य।

विरोध आवेगा और ऐसा हुआ भी करता है। महाभारत के विषय में भी कहा जाता है कि मूल महाभारत 24 हजार श्लोक का था परन्तु आज उसमें एक लाख श्लोक मिलते हैं।

सुप्रसिद्ध विद्वान महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने ई० सन् 1909 से ई० सन् 1912 के बीच तीन बार कई मासों तक राजपूताने का दौरा "राजपूताने में प्रचलित भाट वन्दीजन चारणों की ऐतिहासिक कृतियों की खोज के लिये" करके बंगाल ऐसियाटिक सोसाइटी की ई० सन् 1913 की रिपोर्ट में लिखा हैं–

"चन्द के वंशज सम्राट अकबर ने समय तक रासो को वढ़ाते गये। अकवर ने पृथ्वीराजरासो सुना था। छपा हुआ रासो प्रायः अकवर के समय तक का बना हुआ 18 हजार श्लोकों का ग्रन्थ है। उसके वाद भी और जोड़ा गया है जिससे ग्रन्थ की संख्या सवा लाख की हो गई पर वह थोड़े से लोगों को याद है। चन्द के वंशज (जोधपुर राज्य के अन्तर्गत नागोर निवासी) कहते हैं कि मूल पृथ्वीराजरासो कोई तीन या चार हजार श्लोक का था और वह अधूरा ग्रन्थ था। चन्द उसे पूरा नही कर सके थे।"[1]

---

[1] "According to the tradition current among the descendants of Chand at Nagor, the extent of Chand's orginal Prithviraj Rasau was about 3 to 4 thousand Slokas ....the descendants of Jhalla (son of Chand Bardai) went on adding to the Prithviraj Rasau till the time of Akhbar ... The printed text is very nearly the text that was recited before Akhbar. There have been subsequent additions, but these additions are only known to a few. It is alleged that the completed work extends to a lakh and twenty five thousand slokas. The printed text is about 18,000. The popularity of Prithviraj Rasau in Rajputana is very great. Every bard memorizes it and every Rajput is enraptured with its racital........I tried hard to trace the orginal home of Chand and his descendants. I traced the home at Nagore. Prilimenary Report on the operation in search of Mss. of Bardic Chronicles 1913. (B. A. S. Cal.)

कितने ही विद्वान् चन्द को पृथ्वीराज का समकालीन नहीं मानते परन्तु उसकी वंशावली जो महामहोपाध्याय प्रो० हरप्रसाद शास्त्री एम.ए, सी. आई. ई. ने ई० सन् 1913 में प्रकाशित की है उसके देखने से प्रमाणित होता है कि चन्द पृथ्वीराज का समकालीन था और इस समय पंडित नेनूराम ब्रह्मभट्ट[1] चन्द वरदाई की 26वीं पीढ़ी में हैं।

उपरोक्त ऐतिहासिक प्रमाणों से स्पष्ट है कि जयचन्द्र ने यवनों को पृथ्वीराज के विरूद्ध आक्रमण करने के लिये भारत में नहीं बुलाया था परन्तु वे स्वयं आये थे और अन्तिम हिन्दू सम्राट की शिथिलता को देख कर जो कि सम्राट पृथ्वीराज चौहान के सामन्तों की फूट और ईर्षा तथा सम्राट की राजकाज में उदासीनता के कारण पड़ गई थी, न केवल उन यवनों ने पृथ्वीराज के राज्य को छिन्न भिन्न किया किन्तु महाराजा जयचंद्र गाहड़वाल को भी अपना क्रूर हाथ बताया। ऐसी स्थिति में जयचन्द्र को देशद्रोही या विभीषण कहना अन्याय और असत्य है।

---

[1] यह इतिहास के अच्छे जानकार हैं और पृथ्वीराज रासो के छन्दों का विधिवत् पाठ करने में बड़े प्रवीण हैं। यद्यपि इनकी वृद्धावस्था है परन्तु फिर भी ये वीर रस के छन्द पढ़ते हैं तो सुनने वाले के रोंगटे खड़े हो जाते हैं और इनके मस्तक पर पसीने की बूंदे छलकने लगती हैं। राजपूताना प्रान्त में शायद ही कोई रासो इनके समान पढने वाला होगा। पुरातत्व विषयक खोज की भी इन्हें बड़ी ही धुन है। जोधपुर राठोड़ राजवंश के आदि पुरुष राव सीहाजी और उनके पौत्र राव धूहड़जी के बहुमूल्य और महत्वपूर्ण शिलालेख वि० सं० 1330 तथा वि० सं० 1366 के इन्होंने ही सं० 1967 के वैशाख मास में खोज कर निकाले थे और जोधपुर राजवंश के इतिहास की आदि शृङ्खला के पता लगाने का श्रेय इन भट्ट जी को ही है। इनकी योग्यता की सराहना सर जोन मार्शल, डा० भंडारकर, श्री हरप्रसाद शास्त्री, और मुंशी देवीप्रसाद मुन्सिफ आदि बड़े बड़े ऐतिहासज्ञों तक ने की है। (देखो इण्डियन एण्टिक्वेरी भाग 40 पृ० 141; जून, ई० सन् 1911 वही पृ० 301)।

18

मारवाड़ में सन् सत्तावन की चिनगारियाँ

आजादी का मुँह लाल होना है। नेताजी सुभाष बोस के शब्दों में वह खून मांगती है और इस हेतु भारत के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम (गदर) में मारवाड़ (जोधपुर राज्य) ने भी अपने खून की आहुति दी।

सन् 1757 की 23 जून (वि० सं० 1814 आषाढ सुदि 6 गुरुवार) को प्लासी के युद्ध में भारत के "स्वाधीनता-सूर्य" को ग्रहण लगा। बंगाल के नव्वाब सिराजुद्दौला ने हार मान ली व कूटनीतिज्ञ लार्ड क्लाइव ने "घर का भेदी" मीर जाफर को अपनी ओर मिला कर सदा के लिये भारत को फिरंगी (अंग्रेज) खुरताल के नीचे रौंदना चाहा। शान्तिप्रिय व विश्वप्रेम के गीत गाने वाले हिन्दवासी परन्तत्र हुए। देशप्रेम की ज्योति मन्द पड़ गई, परन्तु उसका लोप नहीं हुआ। ठीक सौ वर्ष पश्चात् सन् 1857 की 10 मई को वह तीव्र रूप में जागृत हुई। फिरंगी सल्तनत के पूर्णचन्द्र का क्षय होने वाला था। वैशाख की पूर्णिमा (9 मई) के अगले दिन कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के लगते ही मेरठ में जन जागृति की उद्दाम लहर दृष्टिगोचर हुई। क्रान्तिकारी सिपाहियों ने जेल के समस्त कैदियों की बेड़ियां काट दी। अनेक अंग्रेज मारे गये। "हर हर महादेव" "दीन! दीन!!" "मारो फिरंगी" और "चलो दिल्ली" के नारे चारों ओर शहर व छावनी में गूंज उठे। क्रान्तिकारी सिपाही जनता के साथ दिल्ली की ओर चले। उस समय देश में हिन्दु-मुसलमानों में कोई भेदभाव नहीं था। उस समय समस्त जनता की एक ही आवाज थी—एक ही नारा था- "फिरंगियों को निकालो"।

इन्हीं मेरठ की घटनाओं के घटते ही बिजली की तरह देशव्यापी सशस्त्र क्रांति फैल गई। इसके पूर्व नाना साहब (धोंधूपंत) पेशवा की कूटनीति की चौसर की चाल निर्देशानुसार बादशाह बहादुरशाह चल चुका था। स्वतंत्र भारत के अंतिम सम्राट बहादुरशाह (81 वर्षीय) ने नीचे लिखा पत्र स्वयं अपने कांपते हुए हाथ से उर्दू में लिखकर जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, अलवर और अन्य राजाओं को भेजा जो भारतीय इतिहास में सदा गौरव पूर्ण स्थान पायेगा। उस पत्र का मजमून यह था—

"मेरी यह दिली ख्वाहिश है कि जिस जरिये से और जिस कीमत पर भी हो सके, फिरंगियों को हिन्दुस्तान से बाहर निकाल दिया जाय। मेरी यह जबरदस्त ख्वाहिश है कि तमाम हिन्दुस्तान आजाद हो जाय। लेकिन इस मक्सद को पूरा करने के लिये जो क्रान्तिकारी युद्ध शुरू कर दिया गया है वह उस समय तक फतहयाब नहीं हो सकता जिस समय तक कि कोई ऐसा शख्स जो इस तमाम तहरीक के भार को अपने ऊपर उठा सके, जो कौम की मुख्तलिफ ताकतों को संगठित करके इस ओर लगा सके और जो अपने तईं तमाम कौम का नुमाइन्दा कह सके, मैदान आकर इस क्रान्ति का नेतृत्व अपने हाथों में न ले ले। अंग्रेजों के निकाल दिये जाने के बाद अपने जाति फायदे के लिये हिन्दुस्तान पर हकुमत करने की मुझ में व मेरी औलाद में जरा भी ख्वाहिश बाकी नहीं है। अगर आप सब महाराजगान दुश्मन को निकालने की गरज से अपनी तलवार खींचने के लिये तैयार हों, तो मैं इस बात के लिये राजी हूँ कि अपने तमाम शाही अख्तियारात और हकूक देशी नरेशों के किसी ऐसे गिरोह के हाथों में सोंप दूं जिसे इस काम के लिये चुन लिया जाय।"

इस ऐतिहासिक पत्र में देशभक्ति कूट कूट कर भरी हुई थी। यह देश का दूसरा दुर्भाग्य था कि उपरोक्त सभी राजा-महाराजा राष्ट्रीय-क्रान्ति का साथ देने का कुछ भी निश्चय न कर सके। परन्तु यह ऐतिहासिक पत्र गुप्त न रह सका और उससे सरदारों व जागीरदारों के दिल और दिमाग में क्रान्ति की बात पैठ गई।

उधर 21 अगस्त शुक्रवार को राजपूताना की ऐरनपुरा छावनी के कुछ बागी सिपाहियों ने आबू पहाड़ पर पहुंच कर कर्नल हॉल के बंगले व अन्य गोरों के निवास स्थानों पर गोलियां बरसा दी और कई गोरों

को भून कर उन्होंने डीसा (पालनपुर) तथा ऐरनपुरा छावनियों के पास के क्षेत्रों में क्रान्ति का शंखनाद कर दिया। सरकारी माल असबाब अस्त्र-शस्त्र आदि लूट लिये। देखते देखते डीसा और ऐरनपुरा छावनियों की भारतीय सेनाएं बागी होकर दिल्ली की ओर रवाना हुई। "मारो फिरंगी" "चलो दिल्ली" के नारों से आकाश गूंज गया। रास्ते में 25 अगस्त (भादों सुदि 6 मंगलवार) को आउवा में पहुँची। आउवा ऐरनपुरा से 45 मील और जोधपुर नगर के पूर्व में 60 मील दूर है। आउवा के तत्कालीन साहसी जागीरदार ठाकुर कुशालसिंह चांपावत (राठौड़) ने उन क्रान्तिकारी वीरों का बड़ा आदर-सत्कार किया और उन्हें अपने किले में आश्रय दिया। उस सेना की टुकड़ी में तब एक हजार सिपाही और 600 घुड़सवार थे। उ के मुख्य रसालदार अब्बासअली, सुबेदार शीतलप्रसाद, मोतीखां सूबेदार, दफेदार अब्दुलअली, किशोरसिंह व तिलकराम आदि थे। आउवा ठाकुर ने इस सेना का नेतृत्व ग्रहण कर अपने सहयोगियों सहित दिल्ली की ओर प्रस्थान करना विचारा। आसोप-ठाकुर शिवनाथ सिंह कूंपावत, गुलर ठाकुर विशनसिंह मेड़तिया और आलनियावास ठाकुर अजीतसिंह भी अपने फौजी दस्ते लेकर आउवे में जा पहुँचे। इनके सिवाय आउवा ठाकुर के सहयोगियों में जोधपुर राज्य के लाँबिया, बांता, भीवालिया, रड़ावास और बांजावास तथा उदयपुर-मेवाड़ राज्य के सलूम्बर, रूपनगर, लासाणी, आसीन्द आदि के सरदार थे। इस तरह उनकी सैन्य शक्ति छ हज़ार के लगभग हो गई। अजमेर के चीफ कमीश्नर ब्रिगेडियर जनरल सर पेटरिक लारेन्स को जब इस क्रान्तिकारी सेना का पता लगा तो उसने तुरन्त जोधपुर स्टेट से फौजी मदद मांगी। जोधपुर के तत्कालीन महाराजा तख्तसिंह राठौड़ ने अपने किलेदार अनाड़सिंह पंवार और राव राजमल लोढ़ा को एक हज़ार योद्धा और 4 तोपें देकर विद्रोहियों का सामना करने को आउवा भेज दिया। बाद में पांच सौ घुड़सवारों सहित सिंघवी कुशलराज और रायबहादुर विजयमल मेहता (मुहणोत) को भी रवाना किया। जोधपुर की रजवाड़ी सेना अपना डेरा आउवा के निकट बीठुड़ा गांव (मारवाड़ रेल्वे जंकशन) में डाला। वहां आश्विन वदि 5 (8 सितम्बर) को घमासान युद्ध हुआ। इसमें जोधपुर राज्य की सेना के सेनापति अनाड़सिंह और लोढ़ा राजमल मारे गये। दूसरी सेना के नायक सिंघवी कुशलराज और रायबहादुर दीवान विजयमल (विजयसिंह) मेहता रणक्षेत्र से भाग छूटे, जैसा कि यह प्रसिद्ध है—

लीला भाला फेरता, भाग गया कुशलेश।

जोधपुर की सेना भी भाग गई। जोधपुर नरेश ने हार की सूचना तुरन्त अजमेर से भेजी। अजमेर गवर्नर जनरल ऐजेन्ट (ब्रिगेडियर जनरल लारेंस) गोरों की जबरदस्त सेना लेकर आउवा पर चढ़ आया। इधर जोधपुर से पोलिटिकल ऐजेन्ट (राजदूत) केप्टेन मॉक मेसन भी भारी फौज लेकर रवाने हुआ। अंगरेज सेना के आउवा पहुँचते ही घमासान युद्ध छिड़ गया। इस युद्ध में आश्विन वदि 30 शुक्रवार (18 सितम्बर) को केप्टिन मेसन मारा गया। बागियों ने इसकी बड़ी खुशियां मनाईं। इस सम्बन्ध का लोक गीत आज तक होली के त्यौहार पर गांव-गांव में चंग (ढप) पर गाया जाता है—

ढोल बाजे, थाली बाजे, भेलो बाजे बांकियो,
अजंट ने ओ मार ने दरवाजे टांकियो,
जूंझै आउवो।
हे ओ जूंझै आउवो, आउवो मुल्कां में चावो ओ,
जूंझै आउवो॥

अंगरेजी और रियासती सेनाओं के और आ जाने पर दूसरे ही दिन आश्विन सुदि 1 (19 सितम्बर) को अंग्रेजी सेना का और बड़ा हमला हुआ। विद्रोहियों तथा आउवा आदि के सरदारों ने डट कर सामना किया। आसोप ठाकुर शिवनाथसिंह ने अंगरेजी सेना की बहुत सी तोपें छीन लीं। अंगरेजी व राज्य की सेना मैदान में टिक नहीं सकी और भाग खड़ी हुई। अंगरेजी और राज्य की सेना के लगभग दो हजार योद्धा काम आये। यह दृश्य देख कर ए० जी० जी० ब्रिगेडियर जनरल सर पेटरिक लारेंस ने भी चुपके से अजमेर का रास्ता लिया। शत्रु सेना की करारी हार के पश्चात् क्रान्तिकारी सिपाही, 20 अक्टूबर (कार्तिक सुदि 3 मंगलवार) को पीपाड़ की ओर बढ़ चले और शत्रुओं से झूंझते हुये नारनौल की तरफ चले गये। इसके पश्चात् डीसा (पालनपुर) व नसीराबाद (अजमेर) की गोरी सेना ने आकर माघ सुदि 5 (20 जनवरी 1858 ई०) को आउवा पर जोरदार चढ़ाई की। दोनों में घोर युद्ध हुआ परन्तु शत्रु सेना की विशालता के सम्मुख मुट्ठी भर लोगों का टिकना कठिन कार्य था।

आउवा ठाकुर इतना शक्तिशाली नहीं था कि अन्त तक सामना कर सके। किला भी मजबूत बना हुआ नहीं था। अतः सब सरदारों की राय से व अपने मुसाहिब (कामदार) कछवाहा मानसिह के आग्रह से युद्ध का संचालन लांबिया ठाकुर को सौंपकर ठाकुर बाहर बच कर निकल गया। छ दिन तक भयंकर युद्ध होता रहा। अन्त में आउवा के कामदार और किलेदार ने अंग्रेजों के लालच में आकर किले के दरवाजे खोल दिये। फिर क्या था? आउवा लूट लिया गया। किला, महल, परकोटा और मकान नष्ट कर दिये गये। इस प्रकार बांता-रघुनाथगढ़, भिवालिया, गूलर आदि के किले भी बारूद से उड़ाये गये। परन्तु राजपूत जागीरदार निराश न हुए और बागी बने रहे। आउवा किले से प्राप्त हुई देवी की मूर्ति को अंग्रेज आबू पहाड़ पर अपने गोदाम में ले गये क्योंकि अंग्रेजों को भय था कि इस मूर्ति (सुगाली माता) में विश्बास कर ही उनमें विद्रोह की भावना जागृत होती है। वि० सं० 1965 के कार्तिक वदि 10 सोमवार को अजमेर में राजपूताना म्यूजियम (अजायबघर) खुला तब सं० 1966 कार्तिक वदि 14 शुक्रवार (ई० सन् 1909 ता० 12 नवम्बर) को वह मूर्ति म्यूजियम को दे दी गई। यह मूर्ति शक्ति के किसी स्वरूप की बताई जाती है और उसके दस सिर तथा 54 हाथ हैं। मूर्ति की ऊंचाई दो फुट 5 इन्च है और यह काले संगमरमर के पत्थर की है।

इस प्रकार आपसी फूट और प्रलोभन से अंगरेजों की आउवा पर विजय हुई। आउवा ठाकुर उदयपुर-मेवाड़ की ओर चला गया और उधर बहुत दिनों तक पहाड़ों में घूमता रहा और बागीयों की सहायता करता रहा। सलूम्बर के रावत केसरीसिंह चूंडावत ने उसकी मदद की, पर अपने यहा आश्रय देने का किसी को साहस न हुआ। अन्त में कोठरिया (मेंवाड़) के जागीरदार रावत जोधसिंह चौहान ने उसे अपने यहां शरण दी। स० 1921 सावण वदि 7 सोमवार को ठाकुर कुशालसिंह का उदयपुर में स्वर्गवास कर गये।

उधर आसोप ठाकुर शिवनाथसिह भी क्रान्ति के असफल होने से बड़ी विपदा में फंस गया। वह वड़लू (अब भोपालगढ़) की ओर चल दिया खबर मिलते ही जोधपुर की सेना ने वड़लू (मारवाड़) को घेर लिया। वहां कई दिनों तक लड़ाई होती रही। अन्त में जोधपुर के सेनापति कुशलराज सिंघवी ने सम्मानित समझौते का जाल रच कर उनसे आत्म

समर्पण करवा लिया और उन्हें कैद कर जोधपुर ले गया। आसोप ठाकुर को इस धोखे की खबर नहीं थी। फिर भी उन्होंने साहस नहीं छोड़ा और वि० सं० 1916 की कार्तिक अमावस्या को दीपावली के दिन जब सब पहरेदार आतशबाजी में मग्न थे, तब मौका देखकर बाहर निकल गये और फिर बीकानेर को चले गये। इनका विद्रोह भी जारी रहा। जागीरदारों के बढ़ते हुए विद्रोह से अंग्रेज सरकार चिंतित हो उठी तब उसने वि० सं० 1917 में एक फौजी अदालत अजमेर में बैठाई और उस अदालत ने समस्त विद्रोहियों को क्षमा कर उनकी कुछ जागीरें वापस देने की राय, जोधपुर व उदयपुर (मेवाड़) राज्यों को दे दी।

अन्त में आउवा की जागीर कुशालसिंह के पुत्र देवीसिंह को वि० सं० 1925 (ई० सन् 1868) के मघसर मास में वापस मिली। इस समय अंगरेज सरकार के ईसारे पर जोधपुर नरेश ने आउवा ठाकुर देवीसिंह चांपावत को कहा कि "यदि वह आउवा गांव छोड़ दे या इस गांव का नाम त्याग दे तो उसकी जब्त सुदा जागीर में से रुपये में दस आने जागीर वापस दे दी जायगी।" परन्तु उसने आउवा गांव या आउवा नाम छोड़ना कबूल न किया क्योंकि इसी स्थल पर उन दिनों क्रान्ति के रक्तिम बीज बोये गये थे। जो आगे जाकर "गुले गुलफाम" बनना निश्चित थे और नाम में ही तो सब कुछ धरा है फिर क्रान्तिकारियों की वाणी पर चढा "आउवा" क्या छोड़ा जा सकता था ? फिरंगी सल्तनत के बागी जागीरदार (आउवा) ने छ आने भाग लेना ही स्वीकर किया। भले ही लाख चले जावें पर साख नहीं जानी चाहिये। यह था राष्ट्रप्रेम और यह थी राष्ट्रीयता जिसका मूल्यांकन फिर "आजाद भारत" में हुआ।

इस स्वतन्त्रता संग्राम के सम्बन्ध में कई लोक गीत अब तक प्रचलित हैं जो होली के त्यौहार पर बड़ी धूमधाम से चंग (ढप) पर तब से गाये जाते हैं। उनमें से एक प्रसिद्ध लोक गीत है—

वणियां वाली गोचर मांय, कालो लोग पड़ियो ओ,
राज.जी रे भेलो तो, फिरंगी लड़ियो ओ,
काली टोपी रो।
हे ओ काली टोपी रो, फिरंगो फैलाव कीधो ओ,
काली टोपी रो॥"

वारली तोपां रा गोला, धूड़गढ़ में लागे ओ,
मांयली तोपां रा गोला, तंवू तोड़े ओ,
झल्ले आउवो ।
हे ओ झल्ले आउवो, आउवो धरती रो थांबो ओ,
झल्ले आउवो ॥

आउवो आसोप धणियां, मोतियां री माला रे,
वारे नाखो कूचीयां, तुड़ावो ताला रे,
झगड़ो आदरियो ।
वाह वा झगड़ो आदरिय, टाली रे टीकायत माथे,
चढने आया ओ, झगड़ो आदरियो ॥
मांयली तोपां तो छूटे, आडावलो धूजे ओ,
आउवे रा नाथ तो, सुगाली पूजे ओ,
झगड़ो आदरियो ।
हे ओ झगड़ो आदरियो, आउवो झगड़ा ने वांको ओ,
झगड़ो आदरियो ॥

आउवा री सूरज़पोल, मुकनो हाथी घूमे हो,
जोधाणा रा किला में, कामेती घूजे हो,
झगड़े आउवो ।
हे ओ झगड़े आउवो, आउवो धरती रो थांबो ओ,
झगड़े आउवो ॥
राजाजी रा घोड़लिया, कालां रे लारे दोड़े ओ,
आउवे रा घोड़ा तो, पछाड़ी तोड़े ओ.
झगड़ो व्हेण दो ।
हे ओ झगड़ो व्हेण दो, झगड़ा में थारी जीत व्हेला ओ,
झगड़ो व्हेण दो ॥

स्मृति का जीवन, गीतों या भीतों (स्मारकों) पर ही आधारित होता है। लोक गीत इस पुण्य युद्ध को सदा जीवित रखेंगे और इस आहुति स्थल पर (आउवा) में बनते वाला "गदर स्तम्भ" आनेवाली पीढियों को रक्तिम आहूतियों का स्मरण दिलायेगा। राजस्थान सरकार इस स्थल पर पीले पत्थर का 25 फुट ऊंचा एक स्तम्भ 15 अगस्त ई० सन् 1957 को (5 हजार रु० की लागत से) खड़ा कर रही है। उसके संगमरमर की वेदिका पर यह आलेख होगा–

॥वन्देमातरम् ॥

हे ओ झल्ले आउवो, आउवो धरती रो थांवो हो,

झल्ले आउवो ॥

यह स्मारक

" ई० सन् 1857 के भारतीय स्वाधीनता संग्राम की प्रथम शताब्दी के पुनीत अवसर पर मारवाड़ के उन स्वतन्त्र्य प्रेमी वीरों और क्रान्तिकारियों की स्मृति में स्थापित किया जिन्होंने सितम्बर 1857 ई० में आउवा के साहसी जागीरदार ठाकुर कुशालसिंह चांपावत (राठोड़) तथा आसोप के ठाकुर शिवनाथसिंह कूंपाव राठोड़ के नेतृत्व में गूलर, आलनियावास, लासाणी, आसींद, रड्डावास, बांजावास आदि अनेक स्थानों के जागीरदारों तथा डीसा और ऐरनपुरा के क्रान्तिकारी सिपाहियों की सहायता से क्राँति का शंखनाद किया और ब्रिगेडियर जनरल सर पेटरिक लारेन्स की सेनाओं के दांत खट्टे किये।" इस तीर्थ स्थली पर यह मौन संगीत राष्ट्र के सपूतों को सदैव सुनाई पड़ेगा–

शहीदों की चिताओं पर हर बरस मेले जुड़ेंगे।

वतन पर मरने वालों का यही बाकी निशां होगा॥

—:o:—

19

सन् '57 में दस सिरों वाली देवी

जोधपुर नगर के पूर्व में 60 मील दूर आउवा नामक गांव है जो पश्चिमी रेल्वे के आउवा स्टेशन से दो मील दूर एक पहाड़ी पर वसा है। इस गांव की आवादी कोई 4 हजार के लगभग है। इसके आसपास आडावला (अरावली) पहाड़ से निकलने वाली दो बरसाती नदियां लीलकी और जोलिया बहती हैं। वर्षा के दिनों में यह गांव एक टापू सा ज्ञात होता है। यह गांव प्राचीन आदू नामक नगर के खण्डहरों पर वसा हुआ है। पंवार (परमार) वंश के राजाओं के समय यह आदू नगर बहुत बडा व समृद्धिशाली था। पंवारों के पतन के साथ इस नगर का वैभव समाप्त हो गया और आदू से "आउवा" कहलाने लगा। पंवारों ने इसको राजगुरु-पुरोहित लोगों को उदक (दान) में रक्खा था। इन राजपुरोहितों से इस गांव को राठौड़ों ने 15वीं शताब्दी में छीन लिया। तव से अब तक यह राठोड़ राजवंश के अधिकार में रहा।

इस गांव में "कामेश्वर महादेव" का एक विशाल मन्दिर 9 वीं शताब्दी का है। इसके सभामंडप में कुछ शिलालेख लगे हुए हैं। एक संवत् 1132 आश्विन वदि 30(ई० सन् 1075 ता० 13 सितम्बर रविवार) का दूसरा सं० 1168 फागुण वदी 13 (ई० सन् 1112 ता० 28 जनवरी रविवार)का और तीसरा सं० 1229 आश्विन वदी 1(ता० 5-9-1172ई० मंगलवार) का है। इन लेखों में मन्दिर की पूजापाठ के खर्च के लिए दान दिये जाने का उल्लेख है।

यह मन्दिर एक ऐतिहासिक घटना के लिए भी प्रसिद्ध है। यहां वि० सं० 1643 (ई० सन् 1586) में कुछ चारणों ने धरणा (सत्याग्रह) करके "चांदी" अर्थात् आत्महत्या की थी। वि० सं० 1620 (ई० सन् 1563) में

मुगल सेना का जोधपुर के किले पर आक्रमण हुआ। राजा ने अपनी रानियों को सिवाना के पहाड़ों की ओर रवाना कर दिया। रास्ते में अचानक बैलगाड़ी का एक बैल थक कर बैठ गया और इस प्रकार गाड़ी का आगे चलना दूभर हो गया। पास ही एक चारण को कुआ चलाते देखकर उन्होंने उस चारण के बैलों की एक जोड़ी खुलवाकर मंगवाली। गाड़ी आगे चल पड़ी। चब चारण को इस बात का पता चला तो उसने आउवा गांव के कुछ आदमियों की सहायता से बैलों को गाड़ी से खोल कर गाड़ी को उल्टा दिया। इसके कारण राजमाता का हाथ टूट गया। उस समय तो प्राणों के लाले पड़ रहे थे, अतः बातें आई गईं हो गईं। परन्तु इसके 23 वर्ष बाद मोटा राजा उदयसिंह ने माता के आग्रह पर उस चारण की माफी कीजमीन जब्त करली। इस पर जो चारण राजा उदयसिंह राठौड़ के पास सिफारिश करने गये उनकी भी जमीनें छीन ली गई। इस पर चारणों ने अपने भाई-बन्धुओं को इकट्ठा कर एक आन्दोलन खड़ा कर दिया और प्रतिकार स्वरूप आउवा गांव में आत्महत्या करली जो भारत के इतिहास में एक अद्वितीय व अनोखी घटना है।

जब वि०सं० 1643 में राजा उदयसिंह राठौड़(मोटाराजा)ने चारणों को उदक (दान पुण्य) में दी हुई वहुत-सी भूमि जब्त करली तब चारणों में एक आन्दोलन खड़ा हो गया। कहते हैं कि कोई 10 हजार चारण आउवा में सत्याग्रह करने (धरना देने) को इकट्ठे हो गये। उन्होंने कामेश्वर महादेव के मन्दिर के पास डेरा डाला। आउवा के राजपूत जागीरदार गोपालदास चांपावत ने अप्रत्यक्षरूप से इन चारणों की सहायता की। उधर राजा ने चारण अकूवा बारहट को सोजत से चारणों को समझाने के लिये आउवा भेजा परन्तु वह भी उनमें मिल गया। चारणों ने एक रात मन्दिर में जोगमाया के गीत गाये और हलुआ-पुड़ी खाया और फिर सुबह होते ही अपनी-अपनी कटारें लेकर मन्दिर में घुस गये और अपने-अपने गले काट कर महादेव को भेंट कर दिये। इसके पश्चात् चारण दुरसा आडा आदि एक दो चारण जो अपने गले में कटार मार लेने पर भी बच गये, सिरोही राज्य की ओर चले गये। चारणों को छिप कर सहायता करने के कारण आउवा के ठाकुर गोपालदास चांपावत की आउवा जागीर भी जब्त हुई और उसे मारवाड़ छोड़ कर बीकानेर जाना पड़ा। बाद में वि० सं० 1652 उनके पुत्र सूरजमल को जागीर वापस मिली। चारणों के प्रति जो

ममता आउवा ठाकुर ने दिखाई उस सम्बन्ध में यह कहावत प्रसिद्ध हुई—

चांपा पालन चारणां, ऊदा पालन डोम।

अर्थात् चांपावत राठौड़ तो चारणों को पालते हैं और ऊदावत शाखा के राठौड़ ढोमों (दमामियों) को। उस समय आउवा के किले में एक देवी की मूर्ति थी और उस देवी में लोग समुदाय की आस्था वहुत थी। इस मूर्ति से आउवा ठाकुर को भारत के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम (गदर) में वहुत प्रेरणा मिली और अंग्रेजी सेना इस मूर्ति को वहां से उखाड़ कर ले गई जिसका घटना-क्रम इस प्रकार है।

वि० सं० 1914 (ई० सन् 1857) में भारतीय स्वतंत्रता का युद्ध छिड़ा; देखते देखते राजपूताने की एरनपुरा और डीसा छावनी की भारतीय सेनाएं भी बागी होकर दिल्ली की ओर रवानें हुई। रास्ते में भादों सुदि 6 मंगलवार (25 अगस्त) को आउवा गांव पहुँची। वहां के तत्कालीन ठाकुर कुशालसिह चापावत ने उनका बहुत बड़ा आदर-सत्कार किया और उनको अपने किले में आश्रय दिया। उस सेना की टुकड़ी में तब एक हजार सिपाही और 600 घुड़सवार थे। आउवा ठाकुर ने इस सेना का नेतृत्व ग्रहण कर अपने सहयोगियों सहित दिल्ली की ओर प्रस्थान करना विचारा। आउवा ठाकुर के सहयोगियों में जोधपुर राज्य के आसोप, गुलर, आलनियावास लांबिया, बांता, भींवालिया, और बांजावास तथा उदयपुर-मेवाड़ राज्य के सलूम्बर, रूपनगर, आदि के सरदार थे। इस तरह उनकी सैन्य शक्ति पांच हजार के लगभग हो गई। अजमेर के कमीश्नर सर हैनरी लारेन्स को जब इस क्रान्तिकारी सेना का पता लगा तो उसने तुरन्त जोधपुर स्टेट से फौजी मदद मांगी। जोधपुर के तत्कालीन महाराजा तख्तसिह राठौड़ ने अपने किलेदार अनाड़सिह पंवार और राव राजमल लोढ़ा को एक हजार योद्धा और 4 तोपें देकर विद्रोहियों का सामना करने को आउवा भेज दिया। वाद में पांच सौ घुड़सवारों सहित सिघवी कुशलराज और रायवहादुर विजयमल मेहता (मुहणोत) को भी रवाने किया। जोधपुर की सेना ने डेरा आउवा के निकट वीठुड़ा गांव में डाला। उस समय वर्तमान मारवाड़ रेल्वे जंकशन (मारवाड़ जंकशन) से भीठूड़ा दो मील पर था परन्तु अव काफी फैल गया है। उस समय रेल्वे लाइन ही खुली थी। समय-समय पर इस गांव का नाम वदलने की

सन् '५७ की प्रेरणा
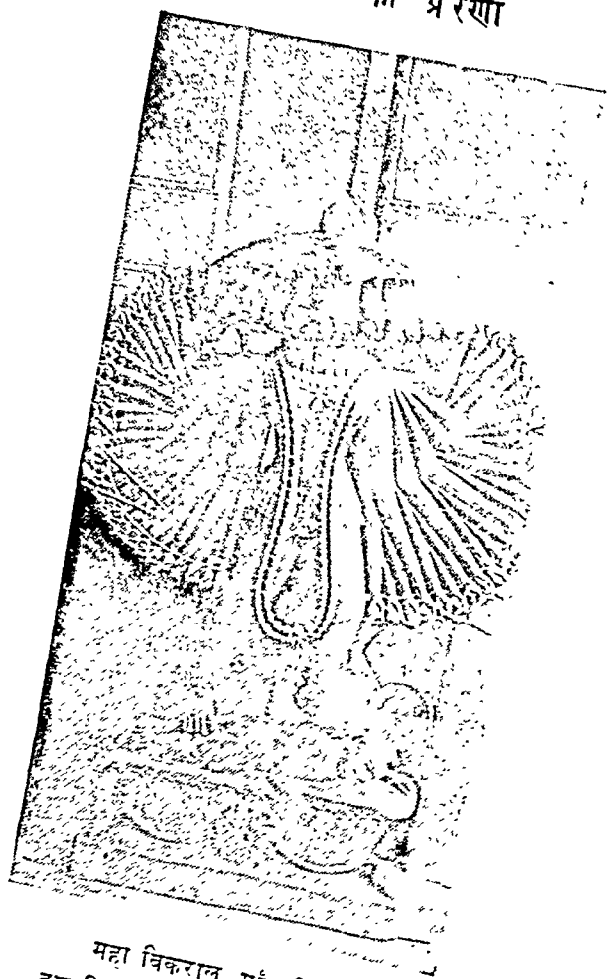
महा विकराल माँ शक्ति
दश शिर तथा चौवन हाथ वाली
फिरंगियों द्वारा झाडवा-दुर्ग से हटाई हुई प्रतिमा

दास्तान भी वड़ी दिलचस्प है। जानकारों को ज्ञात होगा कि जोधपुर रेल्वे सर्वप्रथम वि० सं० 1939 के आषाढ सुदि 8 शनिवार (24 जून 1882 ई०) को खुलने पर, इस स्टेशन का नाम "विठोड़ा" रखा गया। फिर इसका नाम वदल कर पास के गांव के नाम पर "खारची" कर दिया गया। लेकिन रोमन लिपि में कराची (सिन्ध) व खारची एक से ही लिखे जाते व दीखते हैं। इसलिये स्थान का नाम "जसवन्तगंज" रखा गया। यह रेल्वे तत्कालीन जोधपुर नरेश महाराजा जसवन्तसिंह राठौड़ के द्वारा वनी इसलिये उनके नाम पर यह नाम रखा गया। फिर रेल्वे अधिकारियों को एक और उलझन में पड़ना पड़ा। क्योंकि "जसवन्तनगर" नाम का एक और रेल्वे स्टेशन यू० पी० में था। इसलिये इसका नाम "जोधपुर रोड" रखा गया। परन्तु लोगों के एतराज पर इस रेल मार्ग के स्टेशन का नाम "जोधपुर जंकशन" रक्खा गया और जव चैत्र वदि 9 सोमवार वि० सं० 1941 (9-3-1885 ई०) को जोधपुर नगर तक रेल खुल गई तव पुनः इस स्टेशन का नाम "वीठोड़ा जंकशन" रखा गया। यह नाम भी झमेले का कारण हुआ, क्योंकि इसी नाम का एक रेल्वे स्टेशन "विठूर" कानपुर के पास खुल चुका था। तव हार मान कर वि० सं० 1941 में "वीठोड़ा जंकशन" का नाम"मारवाड़ जंकशन"रखा गया जो आज तक कायम है। तवसे मारवाड़ जंकशन नाम पड़ा। यहां आश्विन वदि 5 (8 सितम्वर) को घमासान युद्ध हुआ। इसमें जोधपुर राज्य की सेना के सेनापति अनाड़सिंह और लोढ़ा राजमल मारे गये। दूसरी सेना के नायक सिंघवी कुशलराज और दीवान विजयमल युद्ध से भाग छूटे, जैसा कि यह प्रसिद्ध है "लीला भाला फेरता, भाग गया कुशलेश", जोधपुर की सेना भी भाग गई। जोधपुर नरेश ने हार की सूचना तुरन्त अजमेर भेजी। अजमेर से अंग्रेजी सेना और जोधपुर से पोलिटिकल ऐजेन्ट (राजदूत) केप्टेन मेसन नई सेना लेकर आउवा रवाने हुआ। लेकिन केप्टिन भूल से वागियों के कैम्प में मय अपने कुछ सवारों के जा पहुँचा जहां वह आश्विन वदि 30 शुक्रवार (ई० सन् 1857 ता० 18 सितम्वर) को मारा गया। वागियों ने इसकी वड़ी खुशियां मनाईं। इस सम्वन्ध का लोक गीत आज तक होली के त्यौहार पर गांव-गांव में चंग (ढप) पर वहाँ गाया जाता है—

ढोल वाजे, थाली वाजे, भेलो वाजे वांकियो,
अजंट ने ओ मार ने दरवाजे टांकियो,

जूंझै आउवो ।
हे ओ जूंझै आउवो, आउवो मुल्कां में चावो ओ,
जूंझै आउवो ।।

अंगरेजी और रियासती सेनाओं के और आ जाने पर दूसरे ही दिन आश्विन सुदि 1 (19 सितम्बर) को अंग्रेजी सेना का और वड़ा हमला हुआ। विद्रोहियों तथा आउवा आदि के सरदारों ने डट कर सामना किया। अंगरेजी राज्य की सेना टिक नहीं सकी और भाग खड़ी हुई। अंगरेजी और राज्य की सेना के लगभग दो हजार योद्धा काम आये। इसके पश्चात् डीसा (गुजरात) से अंगरेजों की गोरी सेना ने आकर माघ सुदि 5 (20 जनवरी 1858 ई०) को आउवा को घेर लिया दोनों में घोर युद्ध हुआ। आउवा ठाकुर इतना शक्तिशाली नहीं था कि अंत तक सामना कर सके। किला भी मजवूत बना हुआ नहीं था। अतः सब सरदारों की राय से आउवा ठाकुर बाहर बच कर निकल गया छः दिन तक भयंकर युद्ध होता रहा। अंत में आउवा के कामदार और किलेदार ने अंग्रेजों के लोभ-लालच में आकर किले के दरवाजे खोल दिए। फिर क्या था? आउवा लूट लिया गया। किला, महल, परकोटा और मकानात नष्ट कर दिये गये। आउवा किले से प्राप्त हुई, देवी की मूर्ति को अंग्रेज आबू पहाड़ पर ले गये, क्योंकि अंग्रेजों को भय था कि इस मूर्ति (सुगाली माता) में विश्वास कर ही उनमें विद्रोह की भावना जागृत होती है। वि० सं० 1965 का कातिक वदि 10 सोमवार (सन् 1908 ता० 19 अक्टूबर) को अजमेर में राजपूताना म्यूजियम (अजायबघर) खुलने पर सं० 1966 कातिक वदि 14 शुक्रवार (ई० सन् 1909 ता० 12 नवम्बर) को यह मूर्ति म्यूजियम को दे दी गई। इस प्रकार आपसी फूट और प्रलोभन से अंगरेजों की आउवा पर विजय हुई। आउवा ठाकुर उदयपुर-मेवाड़ की ओर चला गया और उधर बहुत दिनों तक पहाड़ों में घूमता रहा और बागीयों की सहायता करता रहा। सलूम्बर के रावत केसरीसिंह चूंडावत ने उसकी मदद की, पर अपने यहां आश्रय देने का किसी को साहस न हुआ। अन्त में कोठरिया (मेवाड़) के जागीरदार रावत जोधसिंह चौहान ने उसे अपने यहां शरण दी। सं० 1921 सावण वदि 7 सोमवार को ठाकुर कुशालसिंह का उदयपुर-मेवाड़ में स्वर्गवास हो गये। अन्त में आउवा की जागीर कुशालसिंह के पुत्र देवीसिंह को वि० सं० 1925 (ई० सन् 1868) को वापस मिली।

इस स्वतन्त्रता संग्राम के सम्बन्ध में कई लोक गीत अब तक प्रचलित हैं जो होली के त्यौहार पर बड़ी धूमधाम से चंग (ढप) पर तब से गाये जाते हैं। उनमें से एक प्रसिद्ध लोक गीत है—

वणियां वाली गोचर मांय, कालो लोग पड़ियो ओ,
राजाजी रे भेलो तो, फिरंगी लड़ियो ओ,
काली टोपी रो
बारली तोपां रा गोला, धूड़गढ़ में लागे ओ,
मांयली तोपां रा गोला, तंबू तोड़े ओ,
झल्ले आउवो।[1]

यहां से ही श्याम पत्थर की एक विचित्र मूर्ति अंग्रेजों को ई० सन् 1857 के गदर के समय आउवा किले में प्राप्त हुई जो किसी स्वरूप की है। यह देवी राक्षस के ऊपर खड़ी है और राक्षस धरती पर अधोमुख पड़ा है। देवी उस पर नृत्य की मुद्रा में खड़ी है। मूर्ति के दस शिर और 54 हाथ हैं। एक मुख मानव का है लेकिन शेष मुँह विभिन्न पशुओं के हैं। सब हाथों में विभिन्न प्रकार के शस्त्र व चिन्ह हैं। गले में मुंडमाला पहनी हुई है जो घुटनों के नीचे तक लटकती है। मूर्ति की ऊँचाई 2 फुट 5 इन्च है। यह उत्तर-मध्यकालीन युग की है।

यह मूर्ति शक्ति (काली) का कोई तांत्रिक स्वरूप है। राजस्थान के इस भाग में इस मूर्ति का मिलना प्राचीन समय में शाक्त सम्प्रदाय (वाममर्ग) का यहां प्रभाव होना सिद्ध करता है। अब भी शाक्त मत का थोड़ा बहुत प्रभाव राजस्थान में है। कुछ भी हो यह दस सिर वाली देवी भारत के प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम के शहीदों हेतु मातृ-भूमि का प्रतीक एवं प्रेरणा स्रोत रही है।

---

[1] पूरा लोकगीत पीछे पृष्ठ 115-16 पर दिया है।

20

इतिहास की महिमा

इतिहास शब्द 'इति ह आस' तीन शब्दों से बना है और इसका मूल अर्थ "ऐसा ही हुआ" होता है। इसलिये सच्चा इतिहास वही गिना जाता है जिसमें वास्तव में सत्य ही घटनाओं का उल्लेख हो। कदाचित् प्राचीन घटनाओं के विषय में सन्देह भी हो तब भी जहाँ तक हो सके छान बीन करके सब उपलब्ध साधनों से सिद्ध बातें ही इतिहास में आनी चाहिये। इस कसौटी पर ख्यातें (ऐतिहासिक बहियें) और दन्त कथाएँ बहुधा नहीं कसी जा सकती। अतः उनके शोध में इतिहासवेत्ताओं को कठिनाई प्रतीत होती है।

किसी देश या जाति के इतिहास की सच्ची घटनाओं का क्या महत्व है यह प्रायः शिक्षित समुदाय से छिपा नहीं है। अपने देश और घर की बात जानना अत्यन्त आवश्यक है। इससे राजा और प्रजा में आत्म गौरव और देशभक्ति का संचार होता है। देश के भावी कर्त्ता धर्ता यानी बालकों की शिक्षा तो इतिहास-ज्ञान के विना अधूरी रहती है। बहुधा देखा जाता है कि वर्तमान शिक्षा क्रम में विदेशी वीरों की कहानियां रखी जाती हैं। इससे लोग स्वदेश के आदर्श को भूल कर विदेशी रंग में रंग जाते हैं और उन्हीं के रहन सहन और पूर्वजों की कीर्ति के गीत अलापने लगते हैं। परिणाम इसका बड़ा भयङ्कर होता है। स्वदेशी वीरों और सच्चरित्र पूर्वजों के कार्य उनके देश और जाति के लिए अलौकिक आत्मोसर्ग और स्वतन्त्रता की रक्षा के कारनामों की कथाऐं, हमारे छात्रों के लिए कितनी लाभकारी हो सकती हैं और उनके उच्च भावों से प्रेरित होकर वे कैसे कैसे काम कर सकते हैं, यह किसी भी समझदार व्यक्ति से छिपा नहीं है। किसी अंग्रेज विद्वान् ने अत्यन्त मार्मिक शब्दों में बताया है कि—

"History is the first thing that should be given to children in order to form their hearts and under-standing"
—Rolis.

"इतिहास वह वस्तु है जो बच्चों के हाथ में सब से पहिले दी जानी चाहिए, क्योंकि इससे उनके कोमल हृदयों पर देश प्रेम और वास्तविक वुद्धि की मुहर लग जाती है।"

पड़िहार राजा बाउक के वि० सं० 894 (ई० सन् 837) के जोधपुर-शिलालेख का मंगलाचरण भी, इतिहास के गौरव को इस प्रकार बताता है—

गुणाः पूर्वपुरुषाणां कीर्त्यन्ते तेन पण्डितैः ।
गुणाः कीर्तिर्न नश्यन्ति स्वर्गवासकरी यतः ॥2॥

अर्थात् पण्डित लोग इसलिए अपने पूर्वजों के गुणों का कीर्तन करते हैं, क्योंकि स्थायी रहने वाली गुणों की कीर्ति स्वर्गवास देनेवाली होती है।

वास्तव में इतिहास ही किसी देश और जाति का सर्वस्व है। वही उसके पूर्वजों की उपार्जित विद्या है और वही भूले हुओं को मार्ग बताने वाली दीपशिखा है। देश और जाति का वही नेत्र है। जिस जाति का इतिहास नष्ट कर दिया जाय तो वह जीवित नहीं रह सकेगी और यदि रहेगी तब भी दासता में जकड़ी हुई और अपने अधिकारों को भूली हुई। इसीलिए साहित्य में इतिहास का महत्व बहुत उच्च माना गया है। मानव जाति की उन्नति की आधार शिला और उसकी जीवित रखने वाली संजीवनी बूँटी यही है। जातियों के उत्थान-पतन में इतिहास का प्रभाव बहुत अधिक रहा है। इतिहास स्वयं बताता है कि जब विजेता जातियों ने दूसरों को पद दलित करना चाहा तब उन्होंने पहले उनके पूर्वजों के गौरव को नष्ट किया। इससे उन लोगों के ज्ञान और शिक्षा में अपूर्णता आ जाने के कारण वे अपना गौरव भूल कर पराई सभ्यता के आतंक में आ गये और विजेताओं की सभ्यता की प्रभा में चकित हो गये। यदि इतिहास रूपी भूतकाल का चित्रपट सामने न हो तो राजनीति, शासन व्यवस्था, धार्मिक आचार-विचार, रहन-सहन आदि किसी भी विषय में उन्नति की आशा नहीं हो सकती। सभ्यता का आधार इतिहास ही है।

जिसके द्वारा अपने पूर्वजों के चरित्र, तत्कालीन राजनीति, शिक्षा, उद्योग धन्धे, कलाकौशल, आचार विचार तथा धार्मिक सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति और अन्यान्य रीति रस्मों पर प्रकाश पड़ कर उससे पैदा हुए भले बुरे परिणामों का सही पता लग या जा सकता है। इतिहास, वर्तमान तथा भावी जीवन को उन्नत करने के लिये सच्चे पथ प्रदर्शक का काम देता है। वैसे तो राजपूताने में एक कहावत प्रसिद्ध भी है कि—

'नांव गीतड़ा ने भीतड़ा सूं रहवे'

अर्थात् मनुष्य जाति की कीर्ति को चिरस्थाई रखने वाली वस्तु या तो उसका इतिहास है या उसके कीर्तिस्तम्भ। परन्तु इन दोनों में भी इतिहास का महत्व अधिक है, क्योंकि भीतड़े अर्थात् इमारतें तो फिर भी समय पाकर धूल में मिल जाती हैं और अपने साथ ही अपने बनवाने वालों की स्मृति को भी लुप्त कर देती हैं परन्तु गीतड़े अर्थात् ऐतिहासिक कथाऐं अनन्त काल तक अपने से सम्बन्ध रखने वाले पुरुष रत्नों का नाम अमर बनाए रखती हैं। राम और कृष्ण के राजमहलों का लोप हो जाने पर भी वाल्मीकि और व्यास की बनाई उनकी गाथाएँ आज भी उनकी स्मृति को अमर बनाए हुए है। नहीं तो उनके बनाए महल मन्दिरों के भरोसे तो उनका नाम कभी का मिट गया होता। मय दानव द्वारा बनवाया हुआ वह अद्भुत "सभा भवन" आज कहां है जिसने कौरव पांडवों की द्वेषाग्नि में घृताहुति का काम किया था ? उसकी ईंट तक का पता नहीं ! इसी प्रकार बाण और हुएनसांग की रचनाओं का ही प्रभाव है कि आज हम सम्राट हर्षवर्धन के चरित्र को जानकर गौरवान्वित होते हैं। सारांश यही है कि इतिहास ही जाति को जीवित रखने में समर्थ होता है और इसीसे इसका महत्व सर्वोपरि माना जाता है।

जो बात सामान्य इतिहास के लिए उपयोगी है वह राजपूताने के इतिहास के लिए तो और भी उपयोगी सिद्ध होती है। इसका कारण स्पष्ट है। राजपूताना वास्तव में भारत की गौरव भूमि है। यह आर्यावर्त्त का प्राण है। कौन शिक्षित मनुष्य नहीं जानता कि वीर राजपूतों ने आपत्ति पड़ने पर समय-समय पर अपने देश प्रेम के लिये रक्त की नदियाँ बहाई हैं ? उनके बलिदान और स्वतन्त्रता की गाथाओं से मुर्दा दिलों में जोश उत्पन्न हो जाता है। राजपूताने की वीर रमणियों ने आत्म रक्षा के लिए जौहर की

आहुतियाँ दे कर जो अलौकिक काम किये हैं उनकी गौरव गाथाओं से बुजदिल की भी नसें एक बार फड़क उठती हैं। जो लोग विदेशी वीरों के चरित्रों के गीत गाते हुए नहीं थकते और सिकन्दर और नेपोलियन के कारनामों पर लट्टू हैं वे भी एक बार राजपूताने के वीरों के उत्साह और वीरता पर दंग रह जाते हैं। कर्नल टॉड ने उचित ही कहा है कि—

"There is not a petty State in Rajasthan that has not had its Thermoplyae, and scarcely a city that has not produced its Leonidas." —James Tod

अर्थात् "राजस्थान (राजपूताना) में कोई छोटासा राज्य भी ऐसा नहीं है जिसमें थर्मापोली (योरोप का एक स्थान) जैसी रणभूमि न हो और शायद ही कोई ऐसा नगर मिले, जहाँ लियोनिडास जैसा वीर पुरुष उत्पन्न न हुआ हो।"

तात्पर्य यह है कि राजपूताना वह प्रसिद्ध युद्ध स्थल है जहाँ पर वीर राजपूतों और अन्य निवासियों ने अपने रक्त की नदियां बहा कर भी अपनी आन बान को ठेस न पहुँचने दी। कौन नहीं जानता कि वीर शिरोमणि महाराणा प्रताप ने कितनी विफलताओं के होते हुए भी विदेशी सत्ता के सन्मुख सिर नहीं झुकाया? इसी प्रकार अन्य अनेक वीरों के साहस पूर्ण कामों की भी रोचक और रोमांचकारी सच्ची कहानियां मिलती हैं, जिनका प्रचार घर-घर होना आवश्यक है। इनके पाठन पाठन से उच्च और उत्तम भावों का संचार होता है तथा देश और जाति में नवीन जागृति उत्पन्न होती है। जिस राजपूताने की तलवार से किसी समय संसार थर्राता था वह राजपूताना यद्यपि इस समय सोया हुआ है परन्तु यदि इसे अपने पूर्वजों का हाल बताया जाय तो एक बार में ही बेड़ा पार हो सकता है। इसलिए प्रत्येक भारतीय बच्चे को राजपूताना और वहां के निवासियों के इतिहास का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

मुझे विद्यार्थी जीवन में ही इतिहास से प्रेम उत्पन्न होगया था जिससे मैं बड़े चाव से उसका अध्ययन करने लगा। उन्हीं दिनों कर्नल टॉड के "राजस्थान" ग्रन्थ को पढ़ने से उसका मुझ पर बड़ा प्रभाव पड़ा और राजपूताने में जन्म लेने के कारण मुझे स्वभावतः मातृभूमि का इतिहास जानने की प्रबल उत्कंठा हुई। इसके परिणाम स्वरूप मेरी अभिरूचि इस

वीर भूमि के समस्त राज्यों का इतिहास लिखने की ओर हुई। सं० 1973 (ई० सन् 1916) में मैंने "मारवाड़ का संक्षिप्त वृतान्त" नाम की पुस्तक लिख कर प्रकाशित की। उसका खूब प्रचार हुआ और जनता ने उसे अपनाया। उसके बाद वि० सं० 1982 के कार्तिक (ई० सन् 1925 अक्टूबर) मास में "मारवाड़ राज्य का इतिहास" लगभग 600 पृष्ठों में प्रकाशित किया और उसी ग्रन्थ में राजपूताने का संपूर्ण इतिहास शीघ्र ही प्रकट करने की सूचना भी प्रकाशित कर दी। राजपूताने का इतिहास अभी तक पूर्णरूप से नहीं लिखा गया है। मेरी यही कामना है कि यह भगीरथ कार्य मैं पूर्ण कर सकूं। मुझे विश्वास है कि यदि मैं पूर्ण इतिहास लिख सका तो, उसका प्रकाशन कालांतर में असम्भव नहीं होगा।

(प्रस्तुत लेख का लेखन काल सन् 1937 ई०)

सम्पादक की टिप्पणी—स्व० लेखक ने अपने अदम्य उत्साह तथा पुरुषार्थ के बल पर यह भगीरथ कार्य पूर्ण किया। उन्होंने राजस्थान के सभी तत्कालीन राज्यों का इतिहास लिख डाला। द्वितीय महायुद्ध में कागज के अकाल के कारण यह विशाल पोथा, अपने खण्डों में भी नहीं छप सका। प्रथम भाग उन्होंने अपने जीवनकाल में प्रकाशित किया। उनके देहावसान (ता० 22-9-58) के पश्चात, राजपूताने के इतिहास के दो और भाग प्रकाशित हुए। शेष भाग भी प्रकाश्य हैं। इन भागों के अतिरिक्त उनका प्रसिद्ध 'ऐतिहासिक तिथिपत्रक' एवं अन्यान्य ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए हैं। राजपूताने के इतिहास के प्रकाशन संबंधी विगत इस प्रकार है—

पहला भाग—उदयपुर, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ, शाहपुरा, करौली व जैसलमेर राज्यों का इतिहास।

दूसरा भाग—बून्दी, कोटा व सिरोही राज्यों का इतिहास।

तीसरा भाग-जयपुर व अलवर राज्यों का इतिहास।

निम्न शेष दो भाग प्रकाश्य हैं,

चौथा भाग-जिसमें जोधपुर, बीकानेर व किशनगढ राज्यों का इतिहास होगा।

पांचवां भाग-जिसमें दांता, झालावाड़, भरतपुर, धोलपुर, पालनपुर, टोंक व अजमेर राज्यों का इतिहास होगा।

—

21

क्षात्र-शक्ति के पतन के कारण

भारतवासियों ने इतिहास से क्या सीखा ? यह एक ज्वलन्त प्रश्न है। इस प्रश्न की ओर ध्यान, अंग्रेजी शासन काल में जाने नहीं दिया गया और स्वतंत्रता के पश्चात जब सही मूल्यांकन करने का समय आया तो साम्प्रदायिकता के हौवे ने चिंतकों को दिशाभ्रम कर दिया। वास्तव में यह हमारी राष्ट्रीय भूल है कि गत अनुभवों के लेखे-जोखे (इतिहास) से मार्ग-दर्शन न लें। वैदिक काल में जाति कर्मानुसार बनी और शस्त्र लेकर रक्षा करने अथवा अतिक्रमण करने वालों को क्षत्रिय कहा गया। यह क्षत्रिय अपने क्षात्रकर्म के कारण कहलवाये। कालांतर में यही क्षात्रगुण प्रधान वाली जातियां क्षत्रिय नामधारी हुई। इन्हीं में से शासक हुए और राजपुत्र भी। इनके कुल, वंश कहलवाये। इस तरह क्षत्रिय-जाति जन्मना मानी जाने लगी। यह क्षत्रिय (राजपुत्र) अपनी वंश परम्परा में गर्व करने लगे और अपने क्षात्र-कर्म पर भी। यह राजपुत्र-वर्ग अपनी सन्तान के प्रसार के कारण सभी को शासक न बना सका और फलस्वरूप आजीविका की खोज में भूमि-पति, होने के कारण, अधिकांश वंशज कृषक बने और जो शासक रहे, वे भी बहुत छोटे-छोटे भूमिखण्डों के अधिपति हुए। शत्रु के आंतक, व प्रलोभन के कारण और कभी कभी अपने धर्म एवं कुल की हानि भी करके, क्षत्रिय अपना धर्म भी परिवर्तन करने लगा। सहस्त्रों की संख्या में राजस्थान के क्षत्रिय नव-मुस्लिम बने जैसे कायमखानी, रावत आदि जातियाँ हैं। मोटेरूप में, आजका राजपूत-वर्ग वैदिक क्षत्रिय वर्ण का सीधा उत्तराधिकारी है। इस राजपूत-वर्ग के हाथ से सत्ता क्यों चली गई ? यह प्रश्न सारे राष्ट्र के हित में मननीय है और इसी पर यहां विचार प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

पतन के कारणों की ओर इंगित कर रही हैं और इन्हीं तथ्यों को आधार पर कुछ निर्णय लिए जा सकते हैं।

यह तो सर्वमान्य मत है कि राजनीतिक चैतन्य का ह्रास ई० सन् 550 से 920 तक थोड़ा बहुत दृष्टिगोचर होने लग गया था फिर इस ह्रास की गति एकाएक तीव्र हो जाती है और राज्य के पतन की दशा आ जाती है, ऐसा क्यों हुआ ? इतना शीघ्र क्यों हुआ ? यह प्रश्न यहाँ विवेच्य हैं। आरम्भिक ह्रास का एक प्रमुख कारण धार्मिक अन्धविश्वास भी था। सिन्ध के राजा चच (जच्च) और दाहर पर जब अरबों का आक्रमण हुआ तब वहाँ की प्रजा का जाट-वर्ग, असन्तुष्ट व पीड़ित होने से विद्रोही था और बौद्ध भिक्षुओं ने तो इन अरबों को निमन्त्रण ही दिया था। ऐसी आंतरिक दशा में सिन्धु पति सावधान नहीं हुए और प्रजा का एकमात्र अडिग विश्वास बन्दरगाह पर स्थित मन्दिर के झन्डे पर रहा। वे मान बैठे थे कि जब तक झण्डा फहराता रहेगा, उनकी पराजय नहीं होगी ? जड़ पदार्थों के माहात्म्य ने उनकी रक्षा नहीं की। इस धार्मिक अन्धविश्वास अथवा चमत्कार की आस्था ने अनेक बार हिन्दूओं को पराजय से भेंट कराकर स्वतन्त्रता देवी के मुँह पर अमिट कालिमा पुताई है। महमूद गजनवी कुफ्र की जड़ खोदने और विशाल धनराशि को लूटने हेतु सोमनाथ के मन्दिर को तोड़ने के लिए कटिबद्ध हुआ। मन्दिर के रक्षक उसी शिवलिंग से रक्षा की याचना करने लगे। परिणाम सर्व विदित है। कन्नौज को राजधानी बनाकर मिहिर भोज ने पचपन बरस (लगभग 836 से 890 ई० तक) और उसके पुत्र महेन्द्रपाल ने सत्रह बरस (891 से 907 ई० तक) शासन किया। उनके शासन काल ने रामराज्य की स्मृति ताजा कर दी पर वे भी अपने पड़ौसी राज्य मुलतान-सिन्ध को ईस्लामी शासकों से मुक्त नहीं करा सके। उनकी सेना जब कभी मुलतान की ओर बढ़ी, वहाँ के ईस्लामी शासक मुलतान के सूर्य मन्दिर को तोड़ने की धमकी दे देते। धर्म के प्रतीक मन्दिर की सुरक्षा ने हिन्दुओं को कर्तव्य पथ से च्युत कर दिया। वह अवसर था पर निर्बल शत्रु का नाश नहीं हो सका। कालान्तर में इस धर्म की आड़ में रक्षा पाने वाले शत्रु प्रबल हो उठा। फलस्वरूप न तो भोज के वशंज रहे और न वह सूर्यमन्दिर ही। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि धर्म की अन्ध आस्था और उसके संभावित चमत्कार के कारण उस समय की क्षात्र-शक्ति विमोहित होकर पंगु बनना आरम्भ हो गई थी।

इस संधिकाल में हिन्दू शक्ति के ह्रास को रोकने का अभूतपूर्व पराक्रम अजमेर के चौहान चतुर्थ विग्रहराज (बीसलदेव) ने किया। उसके पूर्वजों ने यवनों को बहुत बार हराया था पर विग्रहराज ने उनको एक बार जड़ मूल से उखाड़ कर फेंक दिया। इस विक्रम का ऐतिहासिक प्रमाण भी है। अम्बाले के उत्तर शिवालक की तराई में साधौर बस्ती के पास अशोक की लाट खड़ी थी जिस पर उसका धर्म लेख था। इस धर्म-लिपि के नीचे चौहान सम्राट ने अपना लेख विक्रम सम्वत् 1120 वैशाख सुदि 15 बृहस्पतिवार (ता० 9 अप्रेल, ई० सन् 1164) को खुदवाया। यह अशोक-स्तम्भ फिर ई० सन् 1356 के लगभग, फीरोजशाह तुगलक अपनी राजधानी दिल्ली में उठवा कर ले आया। तीन मंजील ऊँची ईमारत बनवाकर, उसके ऊपर यह स्तम्भ खड़ा किया गया। श्वेत व श्याम संगमरमर के पत्थरों से ढ़की ईमारत पर यह अशोक स्तम्भ सुवर्ण के मुलम्मे की चोटी को धारण करने लगा। तब यह 'मीनार जरीन' (सुवर्ण स्तम्भ) कही जाती थी। यह स्तम्भ क्षात्र-धर्म हीन भारतियों के लिए एक अभूतपूर्व संदेश लेकर आज भी खड़ा है। हिन्दू सम्राट की राजाज्ञा अथवा उसकी अपने वंशजों के नाम की वसीहत का आवश्यक अंश इस प्रकार है—

> ओं आविन्ध्यादाहिमाद्रेर्व्विरचित विजयस्तीर्थयात्रा प्रसङ्गा-
> दुद्ग्रीवेषु प्रहर्त्ता नृपतिषु विनमत्कन्धरेषु प्रसन्नः।
> आर्य्यावर्त्तं यथार्थं पुनरपि कृतवान्म्लेच्छ विच्छेदनाभि-
> र्देवः शाकम्भरीन्द्रो जगति विजयते वीसलक्षोणिपालः ॥३॥
> ब्रूते [? ब्रूते] संप्रतिचाहमान तिलकः शाकम्भरी भूपतिः
> श्रीमद्विग्रहराज एष विजयी सन्तान जानात्मनः।
> अस्माभिः करदं व्यधायि हिमवद्विन्ध्यान्तरालं भुवः
> शेषस्वीकरणाय माऽस्तु भवतामुद्योग शून्यं मनः ॥४॥

अर्थ—ओं। विन्ध्याचल से लेकर हिमालय तक जिसने तीर्थ यात्रा करते करते ही जीत लिया है, (और उस प्रदेश में) सिर उठाने वाले राजाओं पर जो चोट करता है और अपने सामने विनम्र होने वालों को प्रसाद दिखाता रहा है। आर्यावर्त को जिसने फिर से ठीक अर्थों में आर्यावर्त्त बनाया, मलेच्छों को उखाड़ फेंका, उस शाकम्भरी (साम्भर) के

अन्तिम हिन्दू सम्राट

पृथ्वीराज चौहान (तृतीय)
जिसकी राजपूती शान, आन व मान के उत्थान एवं पतन का लेखा-जोखा एक ऐतिहासिक पाठ है।

नरेन्द्र (स्वामी) वीसलदेव की जय हो ॥3॥ वह चौहान वंश का तिलक साम्भर का राजा विजयी विग्रहराज अब अपने चौहान वंशजों से कहता है (कि) हमने हिमालय से विन्ध्य के बीच का भू-प्रदेश कर देने वाला (अधीन) बना दिया है, शेष (पंजाब आदि) के स्वीकार (विजय) करने में तुम्हारा मन उद्योग-हीन (प्रयत्न रहित) न होवे (अर्थात शेष भाग को भी म्लेच्छ विहीन करने में उद्योग शील रहना)। ॥4॥

वीसलदेव की यह गर्वोक्ति उसके विक्रम के अनुरूप है और इसमें उसकी दुरदर्शिता भी झलकती है कि उसने देश की सत्ता को अखंड बनाने के लिए दिशा संकेत भी कर दिया। पर इस संदेश पर ध्यान नहीं दिया गया और इस शिलालेख के कोई 28 वर्ष पश्चात् तरावड़ी (तराइन) के युद्ध में तृतीय पृथ्वीराज चौहान परास्त होकर भारत-श्री को, आने वाले कई सौ वर्षों तक के लिए, हतप्रभा कर गया। इस पतन का लेखा जोखा कई प्रकार से लगाया जाता है। यह तो सभी मानते हैं कि यह पृथ्वीराज चौहान बल, पौरुष, पराक्रम व त्याग में संसार के किसी भी वीर से कम नहीं था, पर वह परास्त हुआ यह भी निश्चित है, इसके क्या कारण हैं ? इसका समाधान करने हेतु यहाँ स्थान नहीं पर पराजय के वे ही कारण हैं जो कि सारी क्षात्र-शक्ति के पतन के कारण हैं। यह भारत का अन्तिम हिन्दू सम्राट था। इसमें प्राप्त होने वाले अवगुण बाद के सभी राजपूत शासकों में मिलते हैं और इसी कारण कोई राजपूत शासक अवसर को नहीं पहिचान सका और न वाराहवतार की तरह भारत-भूदेवी को म्लेच्छों से मुक्त करा सका। पृथ्वीराज चौहान का पतन एक ऐतिहासिक शिक्षा है।

11वीं शती के अन्त में अणहिलवाड़े का चालुक्य-राज्य अपने पूर्ण वभव तथा पराक्रम के कारण देदिप्यमान था। वहाँ जयसिंह (1093 से 1142 ई० तक) सिद्धराज के विरुद्ध से जाना जाता था और युग की धारणा एवं स्वयं जयसिंह का दिखावा था कि उसे मंत्र-तन्त्र के बल के कारण कई चमत्कारी सिद्धियां प्राप्त हैं। इसके पश्चात् कुमारपाल भी (1142 से 1173 ई० तक) प्रतापी नरेश हुआ था। इनके कुछ ही पूर्व सन् 1100 ई० में जब देश में सशक्त शक्तियां राज्य करती थीं तो उन्होंने अपना संगठन न कर, आपस में लड़ना ही चुना। इस समय जब एकता अथवा आपसी समझ की आवश्यकता थी तब गुजरात के चालुक्य, अजमेर व दिल्ली के चौहान कन्नौज व महोबा के चन्देल और काशी के गहड़वाल आपस में युद्धरत थे और

अपनी राज्य शक्ति एक दूसरे पर आजमाने में लगे थे पर पश्चिमी सीमा पर आए शत्रु अथवा सम्भावित आक्रमण की ओर किसी ने ध्यान ही नहीं दिया। चौहान राजा अजयराज ने अजमेर बसाया और साम्भर से हटाकर अपनी राजधानी वहाँ ले गया। उसका पुत्र अर्णवराज (आना) हुआ जो पड़ौसी राज्य के सिद्धराज जयसिंह से लड़ पड़ा। आना हारा। आगे जाकर सिद्धराज ने उसे अपनी पुत्री कांचनदेवी देकर, अपना दामाद बना लिया। इस आना का पुत्र चतुर्थ बीसलदेव हुआ, जिसका पराक्रम उपर्युक्त वि० सम्वत् 1120 के उत्कीर्ण लेख में देख चुके हैं। इस बीसलदेव के पश्चात् कांचनदेवी का पुत्र सोमेश्वर अजमेर की गद्दी पर बैठा। इसका पुत्र तृतीय पृथ्वीराज चौहान हुआ। इस पृथ्वीराज की माता चेदि की राजकुमारी कर्पूरदेवी थी। पृथ्वीराज वीर था इसमें कोई संदेह नहीं पर वह अपने ताऊ बीसलदेव के संकल्प को पूरा नहीं कर सका। उत्कीर्ण आदेश को कार्यान्वित करना तो दूर रहा, वह अपने गर्वीले पूर्वजों का राज्य ही खो बैठा। इसकी पराजय में पतन के सारे कारणों को खोजा जा सकता है।

राजपूताने के यशस्वी इतिहासकार स्व० जगदीशसिंह गहलोत ने अपने राजस्थान के इतिहास के दूसरे खंड को अन्तिम हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज चौहान की स्मृति में समर्पित करते कितना सचोट एवं उक्ति स्वरूप लिखा था, "राजपूती शान, मान व आन के ज्योतिपुञ्ज सम्राट पृथ्वीराज चौहान को जिसके उत्थान व पतन का लेखा-जोखा एक ऐतिहासिक पाठ है।" वास्तव में पृथ्वीराज का अन्त उस वीर के लिए शोभा नहीं देता है पर उसे अपने अविवेक का फल भोगना पड़ा। स्व० सेठ जुगलकिशोर जी बिड़ला ने पृथ्वीराज की प्रतिमा लक्ष्मीनारायण-मन्दिर (बिड़ला मंदिर) नई दिल्ली के उद्यान में खड़ी की तो उन्होंने बहुत चिंतन और परामर्श के पश्चात्, उस पर एक लेख उत्कीर्ण करवाया। यह उत्कीर्ण पंक्तियां संक्षेप में भारत के पराजय के कारणों को मोटे रूप में प्रस्तुत कर रही है। यह भी विधि की विडम्बना है कि अशोक की लाट पर विग्रहराज का खुदा लेख, देश की राजधानी में स्थापित हुआ और वह केवल देखने की वस्तु ही बना रहा!

क्षात्र-कर्म के ह्रास के कारण, भिन्न भिन्न वर्षों में एवं भिन्न भिन्न शक्तियों के हेतु एक से नहीं रहे हैं। कौन सा दोष अथवा दुर्बलता पराजय का कारण बनी, सिद्धान्त रूप में नहीं कही जा सकती क्योंकि प्रामाणिक

सामग्री का सर्वथा अभाव है। यहां पर केवल मोटे रूप में उनको प्रस्तुत करेंगे। इनके समर्थन में उदाहरण स्वरूप कुछ चुनी गई ऐतिहासिक घटनाओं को भी देंगे जिनसे कारण को समझने में सरलता हो। यह घटनायें विवेच्यकाल की सीमा के बाहर की भी हो सकती हैं क्योंकि ध्यान इस बात का रखा गया है कि उदाहरण ऐसा दिया जावे जिससे कारण का प्रभाव सहज सिद्ध हो जावे।

ईस्लामी आक्रमण देश पर होने लगे थे और स्थिति यहां तक थी कि कन्नौज के राजा अपनी प्रजा से तुरूष्कदण्ड नामक कर उगाह कर तुर्कों के पास गजनी भेजते थे। कन्नौज और जझौती के राज्य, आक्रमणकारी महमूद से उलझे हुए थे तब भोजदेव के समकालीन चेदि नरेश गांगेयदेव ने प्रयाग और काशी पर अधिकार कर लिया। पड़ौसी को फंसा देखकर उस पर आक्रमण कर, कालांतर में शत्रु की शक्ति के बलशाली बनाना है। यह स्वार्थ एवं आपसी द्वेष देश में संक्रामक रोग बन गए। महमूद ने आक्रमण करते समय 'छल-युद्ध' का सहारा भी लिया। इसका सफल प्रयोग कश्मीर के राजा संग्रामराज के सेनापति तुंग और त्रिलोचनपाल के सामने कर चुका था। इसके पहिले भाग्य ने भी उसका साथ दिया था जब आनन्दपाल कन्नौज और जझौती आदि से सहायता लेकर उसके सामने मोर्चा लेने आया था। अटक के पास छछ के मैदान में गक्खड़ों ने तुर्कों पर धावा बोल कर, उनके पैर उखाड़ दिये थे। पर विजय श्री का वरण होते होते रह गया क्यों कि आनन्दपाल का हाथी बिगड़कर भाग खड़ा हुआ और हिन्दू-सेना ने पराजय का संकेत समझ कर पलायन कर लिया। इस भूल का बड़ा भयकर परिणाम निकला। महमूद का आंतक छा गया। वह विजय करता आगे बढ गया और उसने कांगड़े के नगरकोट के प्रसिद्ध मन्दिर को तोड़ कर सांस ली और धनराशि को लूटा। विजेताओं ने आंतक फैलाना, मन्दिर तोड़ना, कत्लेआम करना और लूटना-अपना उद्देश्य बना लिया था। इसके अतिरिक्त पराजित के वंशज को गुलाम शासक बनाकर उससे कर वसूल करना उनकी राज्य शासन प्रणाली था।

महमूद की अन्तिम चढ़ाई सन् 1023 ई० में सुराष्ट्र में स्थित सोमनाथ के मन्दिर पर हुई। मुलतान से चलकर, वह मार्ग में जालोर को लूटते अणहिलवाड़ा पहुँचा। सोलंकी भीम वहाँ का राजा था पर वह भयभीत होकर भाग गया और अपने नाम को निरर्थक हो सिद्ध किया।

महमूद के संग तीस हजार ऊँट रसद पानी से लदे थे पर उसका सम्मिलित होकर, किसी ने डटकर सामना नहीं किया। फलस्वरूप सोमनाथ का मन्दिर एवं शिवलिंग तोड़ डाला गया। .कुफ्र का नाश हुआ और मन्दिर में जमा अथाह धनराशि भ। लूट में हाथ लगी। मन्दिर की रक्षा नहीं हो सकी,न चमत्कारी शिवलिंग अपनी रक्षा कर सका आर धार्मिक आस्था का विपरीत फल यह निकला कि पुण्यार्थ अथवा पुण्य अर्जित करने हेतु जो अपार धन एकत्र हुआ था, वह सारा विजेता को पुरस्कार स्वरूप मिला। ऐसा धन, ईस्लामी लूटेरों के लिए सर्वकालिक निमन्त्रण था। यह माना कि ईस्लाम का प्रचार भी शबाव (पुण्य) था पर बिना ज़र (धन) की आशा के कई मिलों दूर सर पर कफन बांधकर कोई नहीं आता। सामाजिक जीवन में मन्दिर का वैभव, कम नहीं हो सकता था और न रक्षा करने हेतु संगठित हो सकते थे। इस उहापोह में देश लुटता रहा। इन आक्रमणकारियों का सामना जीवट के लोग करते भी थे। महमूद को लौटती बार सूचना मिली कि रास्ते में मालवे का परमारदेव ताक लगाकर बैठा है तो वह राजस्थान का मार्ग छोड़, सिन्ध की ओर वढ़ चला। सिन्ध तटवासी जाटों ने महमूद को बहुत सताया और बहुत सा लूट का माल हथिया लिया। इस समय यदि संगठित आक्रमण हो जाता तो महमूद की वापसी कठिन हो जाती। अवसर को न पहिचानना भी अविवेक है। यह भूल अनेक बार दुहराती जाती रही। सिन्ध तटवासी जाटों से पिटकर, महमूद उस समय चला गया पर वह शीघ्र ही उन्हे दन्ड देने हेतु लौटकर आया। इस प्रतिशोध की भावना के दोष धर्म-ग्रन्थों में अवश्य मिलेंगे पर राजनीतिक विजय अथवा पराक्रम को बनाए रखने के लिए, यह भावना ईस्लाम को शक्ति के लिए अमृत तुल्य सिद्ध हुई।

महमूद के पास अबू-रिहान-मुहम्मद बिन अहमद अलवरूनी ख्वारिज़मी नामक विद्वान था। यह भारत में रहकर, पण्डितों से संस्कृत भाषा और दर्शन का अध्ययन कर चुका था। वरूनी भारत में लगभग चालीस वर्ष रहा। उसने कला, दर्शन, विज्ञान, ज्योतिष आदि कई विषयों पर पुस्तकें लिखी। उसने हिन्दुओं के सब प्रकार के, क्या उपादेय और क्या हेय (हैं), विचारों का अपनी समझ में सत्य वर्णन किया। भारत के सामाजिक जीवन में जात-पाँत का विषैला प्रभाव व्याप्त था। हिन्दू मत-मतान्तरों का आडम्बर निरीह जनता सह नहीं सकती थी। ईस्लामी आक्रमण के सम्पर्क

अथवा आंतक में आकर धर्म परिवर्तन होना बहुत ही सामान्य बात थी और ऐसे नव मुस्लिमों को पुनः हिन्दू समाज में स्वीकार नहीं किया जाता था। युद्ध के कैदी जब छूटकर वापिस लौटते तो उन्हें गाय के गोबर व मूत्र में नियत दिनों तक दबाकर रखते तत्पश्चात उन्हें गोबर व मूत्र का सेवन करना पड़ता। इतना प्रायश्चित करने के पश्चात भी हिन्दू अपनी पूर्व स्थिति को प्राप्त नहीं हो सकता था। वह केवल दास बनकर समाज की सेवा मात्र कर सकता था। खान पान और जाति-वर्ण की रूढ़ियाँ इतनी प्रबल मानी जाती थीं कि देश की स्वतन्त्रता और देशवासियों की चिन्ता किसी को नहीं थी। दाहिर के समय में नव-मुस्लिमों को पुनः हिन्दू समाज में लेने हेतु जो विधान देवल-स्मृति में बना था, वह भी भूला दिया गया। हिन्दुओं की अपनी जड़ता तथा संकीर्णता, उन्हें अधः पतन की ओर ले जाने लगी। इसके ऊपर तुर्रा तो यह था कि मूर्खता वश हिन्दू समाज के कर्णधार यह सोचते ही नहीं वरन् मानते भी रहे कि वे ही संसार के महानत्तम जीवधारी नर हैं। अलबरूनी अपनी पुस्तक में इस अंहकार के सम्बन्ध में लिखता है, "उन्हें (हिन्दुओं को) इस बात की इच्छा नहीं होती कि जो वस्तु एक बार भ्रष्ट हो गई है उसे शुद्ध कर के पुनः ग्रहण कर लें। ....मूर्खता ऐसा रोग है जिसकी कोई दवा नहीं। हिन्दुओं का विश्वास है कि उनके सामने कोई जाति.......कोई सम्राट.......कोई धर्म.......कोई विद्या नहीं।.......उनके पूर्वज ऐसे संकीर्ण विचार वाले नहीं थे जैसी कि यह वर्तमान पीढी है।" अलबरूनी की यह टिप्पणी बहुत वेदनायुक्त है। इससे हिन्द एवं हिन्दू-समाज का पतन देखा नहीं गया और वह कटु सत्य को लिपि बद्ध कर गया। अलबरूनी ने अपने उल्लेख में हिन्दू-समाज और उसकी आस्थाओं व मान्यताओं का सत्य वर्णन किया है। वह हिजरी सन् 430 (1038-39 ई० सन्) में मृत्यु को प्राप्त हुआ।

अलबरूनी ने हिन्दू-समाज के संबंध में जो लिखा, उससे यह स्पष्ट है कि जात-पाँत तथा वर्णो को उच्चता का भाव, हिन्दू समाज को कई टुकड़ों में विभाजित किए हुए था। अंहकार एवं कूप मण्डूकता के अतिरिक्त सारा समाज नव-मुस्लिमों के कारण, एक सर्वथा नई स्थिति का सामना कर रहा था। बलपूर्वक जिनका धर्म परिवर्तन कर दिया गया था, क्या वे सचमुच में अहिन्दू हो गए और पुनः हिन्दू समाज में स्वीकार्य नहीं? पर व्यवहारिक दृष्टि तथा दूरदर्शिता से विचार ही नहीं किया गया। कुछ

स्मृतियों और निवन्धों में ऐसे हिन्दूओं अर्थात नव-मुस्लिमों के शुद्धिकरण के विषय में वचन हैं पर उनमें मतैक्य नहीं है और न सहज-उदारता ही है। फलस्वरूप युद्ध में आंतक के कारण मुस्लिम बने या शत्रु की कैद से छूटने वाले अपना सामाजिक स्तर खोने लगे। क्षत्रिय-वर्ग अपनी संख्या में घटने लगा और उपेक्षित नव-मुस्लिम वर्ग अपने ही देश में विदेशी बनकर घृणित जीवन बिताने लगा। यदि उस समय आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द जैसा युग पुरुष हुआ होता तो यह बिछुड़ने वाली क्षात्र-शक्ति, देश को शक्तिहीन नहीं करती। शुद्धिकरण की नीति राष्ट्रीय स्तर पर अपना ली जाती तो पाकिस्तान के आदि पुरुषों की संस्थापना नहीं होती। यह कटु सत्य है कि यही नव-मुस्लिम कालांतर में बढ़ते गए और उनकी विशाल मत-शक्ति (Voting power) ने पाकिस्तान की स्थापना करा ही दी। लगभग यही भूल आज स्वतन्त्र भारत की स्वदेशी सरकार, असम स्थित मीजो पहाड़ियों में कर रही है, जहां पर अंगरेजी को राज्य भाषा तथा ईसाई-मत को अपना धर्म वताया जा रहा है। सारांश यह है कि हिन्दू समाज की जड़ता व संकीर्णता और शुद्धिकरण की नीति न अपनाने के कारण, देश में विघटनकारी शक्तियों की जड़ जमी।

महमूद ने अपने सभी आक्रमणों में, सेना का साहस रखने के लिए उत्साह को उन्माद में परिणित कर देने के लिए कुर्आन से पूरी सहायता ली। यह व्यवस्था बाद के सभी मुसलमानी आततांईयों एवं शासकों ने अपनाई। यह तो प्रसिद्ध है कि सोमनाथ के मन्दिर को नष्ट करने के पूर्व महमूद ने अपनी ईस्लामी फौज को खुदाई आदेश सुनाए। बुत-परस्ती को नाबूद करना ईस्लामी लक्ष्य था और इसके फल भी बहुत मोहक तथा आकर्षक थे। शत्रु-दल में इस कारण संगठन बना रहा। फौज का हर सिपाही हिन्दू-समाज अथवा हिन्दू-मन्दिर का नाश कर शवाब (पुण्य) कमाना चाहता था। विजयी होने पर अपार धनराशि हाथ लगती और सुन्दर हिन्दू स्त्रियां भी। यदि लड़ाई में मोत हो जाती तो जन्नत में वही सारे जड़वादी सुख प्राप्त होने के वायदे थे। मजहबी जनून, इनका हौसला मुकम्मिल तौर पर बुलन्द रखता। इनकी विजय का यह भी एक मनोवैज्ञानिक कारण है। कुर्आन[1] के कुछ अंश, इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं;

---

[1] कुर्आन मजीद (हिन्दी अनुवाद), शमसुल उलमा मौलाना नजीर अहमद देहलवी तथा ख्वाजा हसन निमाजी देहलवी द्वारा सम्पादित, प्रकाशक इब्न अरबी कारकुन हलका मशायख, देहली (सन् 1928-29 ई०) से हिन्दी-अनुवाद दिए हैं।

'यही लोग हैं, जिनके रहने के लिए वहिश्त के हमेशगी के (अपरिवर्तनीय) वाग हैं। इन लोगों के (मकानों के) तले नहरें वह रही होंगी। इनको वहां सोने के कंगन पहिनाए जावेंगे और उन वागों में वह सव लोग महीन और मोटे रेशम के हरे कपड़े पहिनेंगे। वहां जड़ाऊ छपरखटों पर तकिए लगा कर वैठेंगे। उन लोगों के लिए क्या ही श्रेष्ठ (वदला व) पुण्य है और रहने के लिए कितना अच्छा शान्ति-स्थान (अर्थात स्वर्ग) है (पारा 15 सूरत 18 आयत 59)।'[1] 'वह अति सत्कार-पूर्वक आनन्दकारी वागों में रहेंगे। सिंहासनों पर आमने सामने वैठा करेंगे। स्वच्छ मदिरा के प्याले घुमाये जावेंगे, उस मदिरा का रंग श्वेत होगा। पीने वाले के लिए वह वहुत स्वादिष्ट होगी। उसमें न नशा होगा और न वह उससे (वुद्धिहीन होकर) वकेंगे। उनके निकट नीची दृष्टि रखनेहारी सुन्दर नयन वाली (हूरें), होंगी, ऐसी गोरी गोरी मानो वह (शुतर मुर्ग के) अंडे हैं (परों में छिपाये हुये की तरह धूलि तथा गर्द से सुरक्षित) उनमें से एक दूसरे की ओर ध्यान देकर सवाल-जवाव करेंगे (अर्थात परस्पर वार्तालाप करेंगे) (पारा 23 सूरत 37)।'[2] '(वह लोग जन्नत में) जड़ाऊ सिंहासनों (तथा

---

1. कुर्आन (वही), प्रथम जिल्द पृष्ठ 414-415, पारा सुब्हानल्लजी 15, सूरत कहफ़ 18, इस आयत का अंगरेजी अनुवाद इस प्रकार है—

'These, for them are gardens of Eden beneath them rivers flow; they shall be adorned therein with bracelets of gold, and shall wear green robes of silk, and of brocade; reclining therein on thrones; pleasent is the reward, and goodly the couch', THE KORAN, Chapter XVIII (Ed. & Trans. by E. H. Palmer), Part II, page 17-18 (Volm. IX of the Sacred Books of the East—F. Maxmuller).

2. कुर्आन (वही), द्वितीय जिल्द, पृष्ठ 635, पारा वमालिय 23, सूरत साफ़्फ़ात 37, इन आयतों का अंगरेजी अनुवाद इस प्रकार है—

'They shall be honoured in the gardens of pleasure, upon couches facing each other, they shall be served all round with a cup from a spring, white and delicious to those who drink, wherein is no insidious spirit, nor shall they be drunk therewith; and with them damsels, restraining their looks, large eyed; as though they were a sheltered egg; and some shall come forward to ask others.' Ibid., chapter XXXVII, page 169-170.

कामदार बिछौनों) पर (गाव) तकिया लगाये हुये (वड़े आनन्द मङ्गल के साथ) विराजमान होंगे। गिल्मान (स्वर्ग के बालक) जो (सदा बहार फूल की तरह) सर्वदा लड़के ही बने रहेंगे, उनके पास (उत्तम उत्तम शरवतों के भरे हुये) गिलास और कूज़े और ऐसी (पवित्र तथा) स्वच्छ मदिरा के प्यालें ला रहे होंगे कि जिस (के पीने) से न (कुछ उन्माद होगा और न उन्माद उतरते समय जो शिर-पीड़ा होती है, वह) शिर-पीड़ा होगी और न बुद्धि खराव होगी। और (पीने की वस्तुओं के अतिरिक्त) जो मेवा वह (खाना) पसन्द करेंगे (वह उनके लिए विद्यमान होगा)। और (मेवों के अतिरिक्त) जिन (जिन) पक्षियों का मांस (खाना) चाहेंगे (वह मांस भी) और (इन शारीरिक सुखों के अतिरिक्त आत्मा को प्रसन्न तथा प्रफुल्लित करने के लिये उनके लिये .खजानों में) सेंते हुये (चमकदार) मोतियों की तरह गोरी गोरी (और मृगया नयनों के सदृश्य) वड़े वड़े नेत्रों वाली (रूपवती) स्त्रियां भी होंगी। (वास्तव में यह सब कुछ उस मन मारने और) उन (शुभ) कर्मों का प्रतिफल है, जो वह (दुनियां में किया) करते थे। जन्नत में यह (नेक लोग) न कोई बेहूदा (तथा निरर्थक शब्द) सुनेंगे और न कोई पाप की वात, परन्तु (हां! चारों ओर से) शुभ शब्द, सलाम सलाम (अवश्य सुनेंगे) (पारा 27 सूरत 57)।'[1]

उपर्युक्त उद्धरण यह निर्णय करने हेतु पर्याप्त हैं कि हिन्दवासियों (काफिरों) से लड़कर मरने वालों के लिए जन्नत में वे सभी सुख सुलभ बताए गए हैं जो उन्हें इस धरती पर प्राप्त नहीं हो सकते थे। ईस्लाम के लिए

---

[1] कुर्आन (वही), द्वितीय जिल्द, पृष्ठ 768, पारा .काल फमा .खत्वुकुम 27 सूरत वाकिअह 56. इन आयतों का अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—

'And gold-weft couches, reclining on them face to face. Around them shall go eternal youths, with goblets and ewers and a cup of flowing wine; no headache shall they feel therefrom, nor shall their wits be dimmed. And fruits such as they deem the best. And flesh of fowl as they desire, and bright and large-eyed maids like hidden pearls; a reward for that which they have done. They shall hear no folly there and no sin. Ibid., Chapter LXI Page 263.

लड़ने वालों के लिए, यह जन्नत के वायदे बहुत ही प्रभावशाली रहे और संगठन को दृढ करते गए। कुर्आन का अंग्रेजी में सम्पादन करते विद्वान पामर[1] ने अपनी भूमिका में ऐसे ही विचार प्रस्तुत किए हैं। प्रसिद्ध इतिहासकार गिब्बन, स्टावर्ट आदि ने भी इनसे भी अधिक तीव्र शब्दों में इन प्रलोभनों का प्रभाव बताया है। काफिरों के कत्लेआम और उनके धन-माल को लूटने के लिए तो अनेक आदेश कुर्आन में हैं पर विपक्षी वर्ग की स्त्रियों के प्रति, (मृत्यु से भी बढ़कर यातनादायक) गुलाम का जीवन वहाँ इच्छित है।[2] मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा कत्लेआम द्वारा जो शवाब कमाया जाता था, वह हिन्दूशक्ति को नष्ट तो करता था पर उसके आतंक का प्रभाव बहुत ही ज्यादा पड़ता था। यही कारण है कि कई घटनाओं में हिन्दू शासक बिना पूरा युद्ध लड़े ही, भागते पाये जाते हैं। उन्हें पराजय होने पर शिष्टता की कतई आशा नहीं रहती थी, अस्तु अपनी तथा अपने परिवार (विशेषकर बालकों और स्त्रियों) पर होने वाले नृशंस अत्याचार व बलात्कार से बचने हेतु, क्षात्र-शक्ति आतंकित होकर पलायन करना श्रेयकर समझती थी। ईस्लामी आततायी विजयी होने पर .कुफ्र के तोड़ने के शवाब (पुण्य) के अतिरिक्त लूट का कीमती माल और सुन्दर स्त्री प्राप्त करता था। यह प्रलोभन कम नहीं था संसार में पाशविक-शक्ति को दुर्जेय बनाने के लिए और चाहिए ही क्या?

ईस्लामी आक्रमणों का ताँता बराबर लगा रहा, इसका एक प्रधान कारण यह भी था कि उस समय का हिन्दू समाज अपने वैभव तथा सम्पदा

---

1. 'Of the presumed sensual character of the Muslims' Paradise-much has been written. It appears, however, from the Koran, to be little more than an intense realisation of all that a dweller in a hot, parched, and barren land could desire, namely, shade, water, fruit, rest, and pleasant companionship and service.', Ibid., Introduction Page LXX (Vol. VI, The Sacred Books of the East).

2. 'Captive women are to be reduced to slavery, and though already married, may be taken as concubines.', Ibid., Chapter IV page 193.

में फूल रहा था। वह अलमस्त था। वर्षों से अर्जित एवं संग्रहित धन राशि हमलावरों के लिए लाभ का पक्का सौदा था। हिन्दू समाज से पकड़ कर ले जाई गई रमणियाँ, उनके यहाँ वासना का साधन बनने लगीं। एक प्रकार से जन्नत के सारे नज़ारे उन्हें हिन्द में नजर आने लगे। यदि थोड़ा अध्ययन किया जावे तो यह स्पष्ट हो जावेगा कि जन्नत की कल्पना, भारत का ही स्वरूप है। इस संबंध में यहाँ इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि कुर्आन में कई शब्द भारतीय-भाषा के हैं और वे उन सुख वी वस्तुओं के नाम हैं जो अरब में प्राप्त नहीं होती हैं। यह, शब्द अरबी न होते हुए भी 'जन्नत' में स्थान पा गए। इसमें शक नहीं कि जन्नत की तारीफ में इस 'जन्नतनिशाँ (भारत) मुल्क' की तीन खूशबूओं का जिक्र पाक और मुकद्दम किताब (कुर्आन) में हैं यथा; मिस्क (मुष्क, मुश्क), काफूर (कर्पूर) और जन्जवील (जरञ्जवीर, शुद्ध संस्कृत में श्रृंगवेर अर्थात सोंठ अथवा अदरक)। इन तीन शब्दों के अतिरिक्त (जन्नत का कल्प-वृक्ष) तूबा (अश्वत्थ), अप, आभा कीस, नमरा, नमारिक (गाव तकिया), खेम (क्षेम), पील, परशु आदि शब्द भी कुर्आन में हैं। इनसे सिद्ध होता है कि जन्नत की जो कल्पना सिपाहियों के मस्तिष्क में थी, वही रूप उन्हें यह भारत में मिला। फलस्वरूप आक्रमणों का ताँता लगा रहा और क्षात्र-शक्ति सम्हलने ही नहीं पाती थी कि पुनः आक्रमण हो जाता था।

मुस्लिम इतिहासकारों ने अपने आक्रमणकारी सेनाओं के सभी नृशंस करतवों को कुर्आन की आयतों की आड़ में छिपा रखा है। उनकी धारणा थी कि काफिरों को लूटना तथा मन्दिरों को तोड़ना, सुन्दर युवतियों और बालकों को गुलाम बनाना, उनका मजहबी उसूल है। कुर्आन में बहुत कुछ उपादेय भी होगा, इस पक्ष की ओर किसी मुसलमान ने ध्यान ही नहीं दिया। अस्तु यह तो सर्वमान्य मत है कि इन आक्रमणकारियों की पीठ पर कुर्आन की दुहाई न होती तो ईस्लाम का इतना आतंक हिन्दू समाज पर नहीं होता और फलस्वरूप क्षात्र-शक्ति अपना शौर्य बिना लड़े ही नहीं खोती। इस पक्ष का दूसरा पहलू भी है। हिन्दू क्षात्र-शक्ति अपने नैतिक विकास के कारण उस मानवीय स्तर तक पहुँच गई थी, जहां पर धूर्त्तता को स्थान नहीं था। दया, करुणा, क्षमा, न्याय आदि मानवीय गुणों को हिन्दू समाज धारण कर चुका था। इस नैतिक विकसित समाज में स्त्रियों का सन्मान था और प्रत्येक बालक के लिए संरक्षता का अभय वरदान। ऐसी स्थिति में ईस्लामी फौजों का सामना ऐसी हिन्दू शक्तियों से हुआ तो फल स्पष्ट ही था। आततायी बेहद आंतकित कर सका और बचाव

पक्ष 'धर्म-युद्ध' के पचड़े में पिटता रहा। इसका ज्वलन्त उदाहरण तृतीय पृथ्वीराज चौहान की अन्तिम लड़ाई है।

हिन्दू समाज कई सौ वर्षों से चैन की वंसी वजा रहा था। विदेशों में भ्रमण करना, समुद्र को पार करना, अनार्य (मलेच्छ) देशों में जाना आदि उसे वर्जित थे। इस कूप मण्डूकता के कारण, हिन्दुओं को शत्रु-देशों का सही हाल अथवा उनकी सैन्यशक्ति का आवश्यक ज्ञान भी नहीं था। इसके विपरीत ईस्लाम के आक्रमण के पूर्व, हिन्दुस्तान का सही हाल, उनके गुप्तचर लगा लेते थे। यह मुस्लिम-गुप्तचर अधिकांश में फकीरों या भिखमंगों का वेश धारण करके आते थे। मुस्लिम व्यापारी भी शासन सम्बन्धी आँकड़े यहां से ले ही जाते थे। आक्रमणकारियों की सफलता का यह एक प्रमुख कारण रहा है क्योंकि उन्हें सैन्य-स्थिति और आवागमन के मार्गों का पूरा विवरण प्राप्त हो जाता था। इन गुप्तचरों में जो संत, सूफी दरवेश, कलन्दर, मुरीद आदि के रूप में रहते थे, वे हिन्दू-समाज पर वहुत दीर्घकालीन प्रभाव डालने में सफल होते थे। उनके पास दर्शन नाम की तो कोई चीज ही नहीं थी, वे अपने सादे, अलमस्त व फकीरी जीवन से जनता को आकर्षित करते थे। यहाँ की सूचनायें भेजने के अतिरिक्त ईस्लाम का प्रचार या उसके प्रति हिन्दुओं का रोष कम करना उनका ध्येय था। नव-मुस्लिमों को धैर्य वंधाना भी उनका ही एक मात्र काम था। सहिष्णु हिन्दू-समाज इस क्षय-रोग से ग्रसित हुआ और जव कभी उसने इस रोग का उत्पात देखा तो असावधान होकर क्षमा द्वारा अपना आदर्श निभाता रहा। इस मनोदशा तथा अविवेक का उदाहरण एक शिलांकित संस्कृत नाटक 'ललित-विग्रहराज' से प्रस्तुत करते हैं। चतुर्थ विग्रहराज के सभा पंडित सोमदेव ने विग्रहराज को नायक वनाकर, यह नाटक लिखा। सारा नाटक शिलाओं पर खुदवाकर अजमेर स्थित संस्कृत पाठशाला (जिसके खंडहर अव अढ़ाई दिन के झोंपड़े के नाम से प्रसिद्ध है) में जड़ दिया गया।[1] इस शिलांकित काव्य के कुछ प्रस्तर खंड अजमेर-संग्राहलय में संग्रहित हैं। इस

---

1. SANSKRIT PLAYS, partly preserved as inscriptions at Ajmer, by Prof. F. Kielhorn, Indian Antiquary, Vol., XX, 1891. page 201-212. Also see Har Bilas Sarda's article in Vedic Magazine and Gurukula Samachar of Aswin V. S. 1969, (October 1912 A. D.).

नाटक के चतुर्थ अंक के आरम्भ में तुरुष्क सुलतान के भेजे गुप्तचर का उल्लेख है। यह भेदिया भिखमंगों का वेश धारण करके, भगवान सोमेश्वर महादेव के शिवालय में एकत्र भक्तजनों की भीड़ में मिलकर, सूचनायें एकत्र करता था। इस नाटक का रचना काल लगभग सन् 1153 ई० (वि० सं० 1210) के है। मुस्लिम गुप्तचर लगातार हिन्दू साधुओं, तपस्वियों या जोगियों का रूप धारण करते देश में आते रहते थे। यह गुप्तचर उत्तरी भारत में ही नहीं, दक्षिण भारत में भी अपना अड्डा जमाए रहते थे। उपर्युक्त शिलांकित उल्लेख के समान ही प्रामाणिक तथ्य एक यात्रा विवरण में मिलता है। अफ्रिका (तनजीर) का प्रसिद्ध यात्री इब्नेवत्तूता जब बम्बई के समुद्रतट से जहाज से तीन दिन की यात्रा कर सन्दनपुर द्वीप (गुआ) पहुँचा तो उसने वहां एक बुतखाने (मन्दिर) की दीवार के सहारे झुका, दो मूर्तियों के बीच में खड़ा, एक तपसी देखा। यह जोगी मौन रहा। बत्तूता के हाथ में जेले नगर से प्राप्त की हुई एक तस्बीह (जप करने की सुमिरनी) थी। जोगी ने अपने ईस्लामी दोस्त बत्तूता को ईशारा करके समझाया कि वह मुसलमान है और छद्म वेश में रहता है। इस जोगी ने बत्तूता को छिपकर दस दिनार दिए और फिर दूसरे दिन बत्तूता आगे हिनौर पहुँचा तो वहां भी उसने छः दिनार और भिजवाए। यह छः दिनार एक दूसरा जोगी लेकर गया था और उसने बत्तूता को कहा कि 'ब्राह्मण ने तुम्हारे लिए भेजे हैं।[1] इन गुप्तचरों को शासन हेतु राजा के नेत्र कहा गया है। मुस्लिम शक्ति अपनी आँखें खोले हुए थी और हिन्दू क्षात्र-शक्ति नेत्र मूँदकर बैठी थी। इस अविवेक का फल देश को भुगतना ही पड़ा।

हिन्दी साहित्य के पण्डितों द्वारा प्रशंसित प्रेम की पीर वाले सूफियों का भारत-प्रवेश भी राजनीतिक महत्व रखता है। मानव धर्म के सौहार्द, अलख सत्ता हेतु व्याकुलता, प्रेम की वेदी पर बलिदान होना आदि गुणों एवं आदर्शों को लेकर इन सूफी संतों को बहुत सराहा जाता है पर इनका मुस्लिम राजनीति और ईस्लामी शासकों से अटूट सम्बन्ध रहा है। यह शोध के लिए एक स्वतन्त्र विषय है पर यहां पर एक प्रसिद्ध सूफी संत का उदाहरण देंगे। यह उदाहरण हिन्दुओं के अन्तिम सम्राट पृथ्वीराज चौहान

---

1 इब्न बतूता का रेहला (यात्रा-विवरण)। हिन्दी अनुवाद हेतु देखिये, 'तुगलक कालीन भारत' भाग प्रथम, पृष्ठ 277-268 प्र० अलीगढ़ मुस्लिम यूनीवर्सिटी।

के काल का है। सुलतान शहाबुद्दीन गोरी, हिन्दुस्तान जीतने का संकल्प लेकर आया तो वह उच्च का भाटी-राज्य हथिया कर सन् 1178 ई० में गुजरात पर चढ़ आया। शहाबुद्दीन गोरी की सेना वहुत शक्तिशाली तथा सम्पन्न थी। वह मार्ग में किराडू (वाड़मेर) के सोमेश्वर महादेव के मन्दिर और चौहानों के नाडोल को लूटपाट कर आ रहा था। गुजरात की स्थिति कुछ अन्य ही थी। वहां का राजा द्वितीय मूलराज सोलंकी वालक था और उसकी माता ने शासन भार सम्भाल रखा था। आवू के नीचे कायद्राँ गांव के पास दोनों सैनायें भिड़ीं। घमासान युद्ध हुआ। सुलतान गोरी वुरी तरह हारा और भाग खड़ा हुआ। उसकी फौज के अनेक सिपाही कैदी वना लिए गए और वे वाद में हिन्दू वनाकर, गुजराती-प्रजा में मिला लिए गए। गोरी परास्त होकर लौट तो गया पर उसका उत्साह कम नहीं हुआ। उसने सन् 1186 ई० में गजनी में अपना शासन स्थापित कर, पंजाव पर आक्रमण करके उसे अपनी सल्तनत में मिला लिया। इस तरह वलशाली होकर, वह पुनः सन् 1190-91 में सरहिन्द तक उत्पात मचाता पहुँच गया। मुलतान को उसने राजधानी वनाया। दिल्लीपति गोविन्दराज आदि राजाओं ने पृथ्वीराज चौहान तक पुकार की और यह सारी शक्तियां थानेश्वर से 14 मील दूर तरावड़ी (तराइन) के युद्ध स्थल पर एकत्र हुईं। इस युद्ध में सुलतान वुरी तरह घायल हुआ और अपनी 'कीमती जान' लेकर भाग खड़ा हुआ। मुस्लिम फौज का भरपूर नाश हुआ। हम्मीर-महाकाव्य का कथन है कि शहाबुद्दीन गोरी को कैद कर लिया गया पर पृथ्वीराज चौहान ने उदारता से उसे क्षमा कर दिया और उसे वापिस लौटने दिया। देश पर इस तरह लगातार आक्रमण करने वाले शत्रु को दया का पात्र समझकर छोड़ देना एक भारी भूल थी। इस भूल की तह में वे आदर्श थे जो हिन्दू धर्म-ग्रंथों में आदर्श राजा में वताए जाते हैं। कर्नल टॉड ने इस व्यवहार हेतु लिखा है कि क्षत्रियों में पाए जाने वाली उदार एवं अंधे वडप्पन वाली भावना के कारण पृथ्वीराज ने गोरी को क्षमा कर दिया।[1] इस अविवेक का परिणाम लगभग एक वर्ष के वाद ही स्वंय पृथ्वीराज को भुगतना पड़ा।

1. 'Hindu sovereign of Delhi........with a lofty and blind arrogance of the Rajput character, set him at liberty.' Tod's Rajasthan, Volm. I, page 696.

शहाबुद्दीन गोरी ने पुनः एक वर्ष पश्चात सन् 1192 ई. में आक्रमण कर दिया। इस बार वह ज्यादा तैयार था। उसने चौहानपति के धर्म भीरु एवं विलासी स्वभाव का पूरा पता लगा लिया था। वह रहता था बहुत मीलों दूर पर उसके गुप्तचर अजमेर की सारी सूचनायें भेजते रहते थे। इस बार सुलतान को एक महान पुरुष की सहायता मिली और वे थे प्रसिद्ध सूफी संत ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती। इस आक्रमण काल के पूर्व अजमेर में रोशनअली नामक गुप्तचर पकड़ा जाकर दंडित भी हो चुका था। ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती ने अपनी जानकारी सुलतान को दी और वे फौज के साथ भारत में आए। सभी मुस्लिम इतिहासकार इस तथ्य को स्वीकार करते है। तवक़ाते नासिरी का लेखक अबू उमर मिनहाज सिराज बहुत ही प्रामाणिक इतिहासकार हुआ है। वह गोर के सुलतान के परिवार में वर्षो पला था। उसका पिता हिन्दुस्तान की सेना का काजी था। सिराज़ राजदूत भी रहा था। वह भारत में सुलतान इल्तुतमिश की सेवा में सन् 1228 ई० में उपस्थित हुआ था। वह देश में विभिन्न पदों पर रहा। वह एक धर्मनिष्ठ मुसलमान था। वह अपनी उपर्युक्त कृति में लिखता है कि 'मुझे विश्वसनीय व्यक्ति से मालूम हुआ है, जो एक विशेष व्यक्तित्व वाला पुरुष जिला तुलक का था और जिसे लोग मुईनुद्दीन उषी पुकारते थे,ने मुझे बताया था कि वह स्वंय सुल्तान गाजी की फौज के साथ था। इस ईस्लामी सेना में उस साल एक लाख बीस हजार सुसज्जित घुड़सवार थे।'[1] इसका समर्थन अब्दुल कादिर वदायूनी की मुन्तखवुत्तवारीख से भी हो जाता है। वदायूनी लिखता है कि 'जब सुलतान शहाबुद्दीन ने हिन्दोस्तान पर हिजरी सन् 588

1. 'The author heard from a trustworthy person, a distinguished man of the high land district of Tulak, whom they used to style by the title of Muinuddin Ushi, who said: 'I was in that army along with the Sultan-i-Ghazi, and the number of cavalry composing the army of Islam that year was one hundred and twenty thousand arrayed in defensive armour'........"the person here referred to is no other than the celebrated Muinuddin Chishti, whose tomb is at Ajmer." -Tabqati Nasiri, page 465.

(ई० सन् 1192) में हमला किया तो ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती भी संग थे।[1] एक अन्य मुस्लिम इतिहास में भी यही बात लिखी है कि अजमेर की विजय के वक्त ख्वाजा मुईनुद्दीन सुलतान के साथ थे।[2] प्रसिद्ध इतिहासकार फरिश्ता भी ख्वाजा मुईनुद्दीन के अजमेर प्रवेश के समय हुए स्वागत का वर्णन करता है।[3] अजमेर के विषय में प्रसिद्ध खोजी इतिहासकार स्व० हरबिलास शारदा ने भी यही मत प्रकट किया है कि ख्वाजा साहब गोरी की फौज के साथ ही आए थे।[4]

ख्वाजा साहब ने फौज में रहकर कोई विशेष बहादुरी सम्भवतः नहीं दिखाई पर उनका व्यक्तित्व बहुत प्रभावशाली था। उनका सारा जीवन ईस्लाम के प्रचार में ही लगा। उस समय के देशकाल में मजहबी प्रचार हेतु जो आम रिवाज प्रचलित था, उसमें योग देना हर पाक मुसलमान का फर्ज था। अजमेर के विजय के पश्चात ख्वाजा ने अपना निवास स्थान यहां बना लिया। उस समय इनकी आयु 49 वर्ष की थी। अपने अजमेर के वास में 90 वर्ष की आयु में, इन्होंने अजमेर के सूबेदार सैयद वजीहुद्दीन की कन्या अस्मतुल्ला से शादी करली। फिर अगले वर्ष टिपली के हाकिम द्वारा पकड़ कर लाई गई एक हिन्दू राजकुमारी को मुस्लिम बनाकर, उससे निकाह पढ़ ली। इन दोनों पत्नियों से सन्तान भी हुई। यह सन्तान भी आगे जाकर सैनिक बनीं और काफिरों से लड़ती काम आईं। इनकी कब्रों पर मुस्लिम लोग जिरायत के लिए जाते हैं। ख्वाजा साहब ने असंख्य मुरीद एवं मुरशिद बनाए जो उनके कार्य को अबाध गति से चलाने लगे। इस कारण ईस्लाम ख्वाजा साहब का चिर ऋणी रहेगा क्योंकि इन्हीं के कारण ईस्लाम को फतह ही नहीं मिली वरन् सदा के लिए उसकी जड़ें भारत में जम गईं। ख्वाजा साहब की दरगाह, तोड़े हुए हिन्दू मन्दिरों के आंगन में बनी। इस

---

1. Muntakhabut Tawarikh, page 15.

2. 'The author of another Mussalman history, Charchaman Chatraman, also says that Khwaja Muinuddin came with Shahabuddin Ghori when he conquered Ajmer and Delhi', as quoted by Late Har Bilas Sarda, in his Ajmer, at page 89.

3. Tarikhi Ferishta, Volm. II, page 377.

4. Ajmer by Har Bilas Sarda, page 89.

दरगाह का माहात्म्य इतना प्रबल है कि मुगल बादशाह अकबर ने भी चित्तौड़ विजय के पश्चात मजार की पैदल यात्रा कर अपना वचन निभाया। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि विवेच्यकाल का शासन, मुस्लिम गुप्तचरों एवं प्रचारकों से सावधान नहीं हुआ और क्षात्र-शक्ति इस क्षय रोग के कारण भीतर ही भीतर ग्रसित होती गई।

तृतीय पृथ्वीराज चौहान ई० सन् 1178 में राजगद्दी पर बैठा तब उसकी आयु कोई अधिक नहीं थी। उसकी माता कर्पूरदेवी तथा चतुर मन्त्रीगण शासन व्यवस्था को सम्भाले हुए थे। उस समय प्रधान मन्त्री कदम्बवास था जो वीरता एवं नीति में बहुत प्रवीण था। सिंहासन पर बैठते ही पृथ्वीराज को कई संकटों का सामना करना पड़ा। शहाबुद्दीन मोहम्मद गोरी मुलतान से उच्च होता हुआ मरूस्थल के रास्ते गुजरात के उत्तर की ओर प्रयाण कर रहा था। उसने अपना दूत भेजकर चौहान पति को इस्लाम मजहब स्वीकार करने का सन्देश भेजा। इसका परिणाम सुनिश्चित था। दूत असफल होकर लौट गया। पृथ्वीराज ने शत्रु से टक्कर लेने की ठान ली पर महामन्त्री कदम्बवास ने मन्त्रणा दी कि सुलतान को गुजरात में लड़कर अपनी शक्ति को समाप्त करने दो और फिर उसका सामना करेंगे। द्वितीय मूलराज सोलंकी की माता ने गोरी से आबू पर्वत की तलहटी में कायद्राँ गांव पर युद्ध लड़ा। शहाबुद्दीन गोरी को करारी हार का सामना करना पड़ा। पृथ्वीराज को जब यह सूचना मिली तो वह बहुत प्रसन्न हुआ। कदम्बवास की नीति की प्रशंसा की गई। यह घटना क्षात्र-शक्ति के एक चारित्रिक विशेषता को स्पष्ट करती है। इस्लामी शत्रु का आक्रमण कभी भी देश पर आक्रमण नहीं समझा जाता था। आक्रमण को टलते देख अथवा पड़ौसी राज्य पर होते देख, सुख की सांस ले ली जाती थी। तब देश, विभिन्न खण्डों में बटाँ था। उन सब खण्डों को स्व-रक्षा की चिंता थी और उनमें देश की अखण्डता की भावना का सर्वथा लोप था। इसके साथ ही संकट काल में अथवा आगामी संकट को टालने हेतु उनमें संगठित होने की भावना भी लेश मात्र नहीं थी। 'संघ-शक्ति' की महत्ता नहीं समझी जा रही थी और आक्रमणकारी एक एक शक्ति से निपटता मुलतान तक आ जमा था। गोरी गुजरात से पराजित होकर गया पर उसको मुलतान, पंजाब अथवा देश के बाहर खदेड़ देने की सूझ किसी में नहीं आई। गोरी के गुजरात के आक्रमण

के समय पृथ्वीराज अपने परिवार से निकले शासकों से लड़ पड़ा। मैत्री करने के वजाय युद्ध करके उसने अपने शत्रु वढा लिए।

शहावुद्दीन ने फिर आक्रमण किया और तरावड़ी (तराइन) के युद्ध में वन्दी हुआ। पृथ्वीराज चौहान ने क्षमा कर उसे मुक्त कर दिया। गोरी भारत से लौट तो गया पर एक ही वर्ष में पुनः आक्रमण हेतु सुसज्जित सेना लेकर आ गया। उसने रुक्नुद्दीन नामक दूत को भेजा। पृथ्वीराज से इस्लाम कवूल करने को कहा गया। यह दूत भी असफल होकर लौट गया। पृथ्वीराज पर संकट के वादल घिर आए थे और ऐसे समय में उसने अपने एक मन्त्री सोमेश्वर को अपमानित कर निकाल दिया। सोमेश्वर प्रतिशोध की भावना से शत्रुदल में जा मिला। तरावड़ी के युद्ध स्थल पर दोनों पक्ष आकर जम गए। पृथ्वीराज के पास विपुल शक्तिशाली सेना तथा अनेक राजाओं का समर्थन प्राप्त था। उसकी जीत निश्चित थी। इस करण उसे अंहकार भी हो गया हो तो आश्चर्य नहीं। शहावुद्दीन गोरी ने कूटनीति से काम लिया। उसने कहलवाया कि वह तो अपने भाई के आदेश के अनुसार आक्रमण करने आया है सो उससे पुनः दूसरा आदेश पाने की प्रतीक्षा करेगा और तव तक युद्ध नहीं करेगा। पृथ्वीराज ने शत्रु के इन वचनों पर विश्वास कर युद्धविराम मान लिया। शहावुद्दीन की फौज ने वहुत स्थानों पर सामने आग जलाकर अपने पड़ाव डालने की स्थिति स्पष्ट की। चौहान पक्ष की विशाल सेना भी निश्चिन्त होकर आमोद-प्रमोद में तल्लीन हो गई। स्वंय पृथ्वीराज भी अपने रागरंग व मदिरापान में डूव गया। शहावुद्दीन की ओर से युद्ध विराम का आश्वासन था और मुस्लिम लोग भी सामने ही आग जलाते अपने पकवान वनाने में मशगूल दीख रहे थे। पर वस्तु स्थिति कुछ और ही थी। गोरी ने सामने के कुछ सिपाहियों को छोड़ कर शेष सारी सेना को पीछे के मार्ग से चलकर, पृथ्वीराज की सेना पर आक्रमण करने का आदेश दे दिया। अचानक धावा होते ही खलवली मच गई। नींद में अथवा हड़वड़ा कर उठती सेना गाजर मूली की तरह कट गई। स्वंय पृथ्वीराज भी मदिरा में धत्त पड़ा अपना होश नहीं सम्हाल सका। वह वन्दी वना लिया गया। उसे गुलामों की तरह वांधकर अजमेर लाया गया। यहां पर वह कत्ल कर दिया गया। पृथ्वीराज के पतन के पश्चात तुर्कों का राज्य-विस्तार तीव्र गति से हुआ। गोरी ने साम्भर, गुजरात और कन्नौज के राज्यों को जीतकर

गजनी की ओर मुँह फेरा। वह अपने तुर्क दास (गुलाम) कुतुबुद्दीन ऐबक को शासन-संचालन हेतु दिल्ली में छोड़ गया। पृथ्वीराज का पतन, केवल चौहान राज्य का अन्त ही नहीं था वरन् सारे हिन्दुस्तान के परतन्त्र बनने का श्रीगणेश था।

पृथ्वीराज चौहान की पराजय का कारण शहाबुद्दीन की कूटनीति थी या कहें कि छल नीति थी तो अधिक सही होगा। राजा धर्म के आदर्श को अवश्य पालता है पर जब वह शासन करता है तब उसे सभी प्रकार से चोकन्ना रहना पड़ता है। पृथ्वीराज में जो दोष आ गये थे वे सभी दोष उसके व्यक्तिगत जीवन एवं उसको मंत्रणा देने वालों में खोजे जा सकते हैं। चंदवरदाई कृत पृथ्वीराज-रासो ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं है। रासो का रचनाकाल सोलवीं शताब्दी माना जाता है और उसमें उपबृंहण लगातार होते गए। पृथ्वीराज के समकालीन जयानक का लिखा 'पृथ्वीराज विजय' नामक संस्कृत काव्य प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। इस ग्रन्थ में एक प्रसंग आता है कि जब पृथ्वीभट्ट की चित्रसारी में चौहानपति गया तो वहां पर उसने तिलोत्तमा का चित्र देखा। सम्राट मोहित होकर जड़वत खड़ा ही रह गया। उस पर काम का आक्रमण इतना अधिक हो गया कि अन्त में स्वर्ग से अप्सरा तिलोत्तमा नीचे उतर कर आई और पृथ्वीराज का काम-ज्वर उतरा। यह घटना व्याज रूप में कही गई है। पृथ्वीराज का सुन्दर स्त्रियों में अनुरक्त रहना सर्व विदित है। पृथ्वीराज-रासो की कथाओं को प्रवाद मात्र माना जावे तो ज्ञात होगा कि सम्राट को दो ही काम थे; प्रथम तो वह अनेक युद्ध करता है और द्वितीय कि वह सर्वश्रेष्ठ सुन्दर रति तुल्य रमणियों का अपहरण करके विवाह करता है। पृथ्वीराज के जीवन का यह पक्ष उसकी आधारभूत दुर्बलता थी। उपर्युक्त संस्कृत ग्रन्थ में तिलोत्तमा के प्रसंग[1] पर खेद प्रकट करते रचियता, इसे पतन का कारण मानता है; यथा,

क्व ललाम तिलोत्तमा दिवः प्रभुता च क्व मनुष्य मण्डले।

................पुरुषस्य नेदृशी, घटनेयं पुरुषोत्तमं विना ॥

कवि पृथ्वीभट्ट ने ठीक ही कहा कि दिव्य तिलोत्तमा (अथवा रति तुल्य रूपवती दुलर्भ-रमणी रत्न) का भोग करना पुरुषोत्तम विष्णु को ही शोभा दे सकता है पर जिन्हें मनुष्य-मण्डल का शासन भार भी साथ साथ

1. पृथ्वीराजविजय महाकाव्यम्, द्वादशःसर्गः, पृष्ठ 301.

सम्भालना पड़े तो उनकी यह सामर्थ्य नहीं हो सकती। पृथ्वीराज का संयोगिता हरण और जयचन्द्र (कन्नौज पति) का देश द्रोह भले ही इतिहास न माने पर पृथ्वीराज का विलासी होना सर्वथा सत्य है। यह कामव्याधि अथवा तरुणी-रमण, उसके व्यक्तित्व की आधारभूत कमी है जो कालांतर में उसे विलासी, मद्यपी, क्रोधी, अहंकारी, अविवेकी आदि बनाकर, उसे षड-रिपुओं का ग्रास बना देती है। यह तो सभी मुक्त कंठ से मानते हैं कि शौर्य में पृथ्वीराज किसी भी आदर्श योद्धा से कम नहीं था। उसके पतन के कारण कायरता और निर्बलता नहीं हैं। चौहान-इतिहास के खोजी, इतिहास-मनीषी श्रद्धेय डॉ० दशरथ शर्मा का भी यही निष्कर्ष है कि चौहानों ने मरना सीखा था, वे जीत की आशा न होते हुए भी मृत्यु का वरण करना अपना धर्म समझते थे पर युद्ध से वे मुँह नहीं मोड़ते थे।[1] पतन के कारणों पर प्रकाश डालते डॉ० दशरथ शर्मा लिखते हैं कि जाति-प्रथा ने अनेक सामर्थ्यवान व्यक्तियों को क्षात्र-कर्म से अलग कर दिया। इसके अतिरिक्त, विलासी जीवन से उत्पन्न आलस्य के कारण संगठन एवं जागरुकता की भावना का लोप हो गया। राजनीतिक और सैन्य संचालन की निश्चित नीति न होने के कारण भी हार का सामना करना पड़ा। देश में केन्द्रिय शासन की व्यवस्था न होने के कारण शक्तियाँ बंटी हुई रहीं। शत्रु की छल-नीति को न समझना बहुत बड़ा अविवेक रहा और फलस्वरूप स्वतन्त्रता का अपहरण हुआ।

शासन के पतन का एक अन्य मुख्य कारण, शासक (और उसकी मन्त्री परिषद) का ध्येय भी होता है। व्यक्तिगत वीरता और बलिदान की भावना, चाहे कितनी ही मात्रा में हो पर राजनीति-विहीन ऐसा शौर्य

---

1. 'None........would regard lack of valour as one of the causes of Chauhan failure, Muslims as well as Hindu historians bear incontestable testimony to the fact that the valiant Chauhan knew well how to die sell their lives dear. Many a time they fought on, even when there was not the least chance of success, because they considered it disgraceful to surrender or flee'., Early Chauhan Dynasties by Dr. Dasrath Sharma, page 321-322.

निष्फल जाता है। विवेच्यकाल में तृतीय पृथ्वीराज चौहान के समान ही वीर योद्धा नागभट्ट, मिहिर भोज, महेन्द्रपाल, भोज परमार, कुमारपाल आदि शासक हुए हैं, पर यह सब देश को संगठित नहीं कर सके। इन शासकों के समान ही चन्द्रगुप्त एवं समुद्रगुप्त मनुष्य थे पर वे अपने संकल्प के कारण अपने ध्येय से च्युत नहीं हुए। इन सम्राटों (और इनको मन्त्रणा देने वालों) के सन्मुख एक राजनीतिक आदर्श था जो उनको महान बनाता है। क्षात्र-शक्ति को सदैव बलवती बनाए रखने के लिए एक नीति का पालन करना पड़ता है और वह नीति इन तीन तथ्यों को किसी न किसी रूप में अपने में लिए होनी चाहिए,यथा-1. देश की रक्षा हेतु सर्वस्व का बलिदान, 2. देश में संगठित होकर रहने की बलवती भावना और 3. देश की परम्परा पर अभिमान करना। इन भावनावों में क्षात्र-शक्ति की आधार शिला स्थापित होने पर ही मनुष्य अपने एकाकी अथवा समाजिक स्वार्थों को नगण्य समझ कर, देश की अखण्डता हेतु सभी कुछ करता है। इन भावनाओं को उत्पन्न करने के लिए देश का भ्रमण तीर्थों के बहाने अथवा अश्वमेध यज्ञ के कारण प्राचीन भारत के सम्राट करते थे। सारे देश में केन्द्रित-शासन होता था और ऐसा शासित संघ अपनी शक्ति में दुर्जेय रहता था। विवेच्यकाल में ऐसी भावना और शासन-व्यवस्था न होने के कारण, क्षात्र-शक्ति संगठित न होने से पराजित होती गई।

देश में बसने वाली प्रजा और उसका शासन, अपनी सार्वभौम स्वतन्त्रता बनाए रखने के लिए, अपने आपको सदैव संगठित रखता है। इतने बड़े महाद्वीप को एक सूत्र में पिरोने के लिए सर्वप्रथम एक ऐसे उद्देश्य को सन्मुख रखना पड़ता है जिसे सारी प्रजा माने। यह प्रजा जब उस भूमि को अपनी माता समझती है अर्थात उसका अनुग्रह स्वीकार करती है तब उस भूमि हेतु वह त्याग भी करना अपना कर्तव्य समझती है। जन्म देने वाली और पालन करने वाले भूमि खण्ड को सर्वोपरी महत्व दिया जाता है। वेदों की तो स्पष्ट वाणी है कि यहाँ की प्रजा गर्व से कहती कि वह इस देश की पुत्र है और देश की भूमि उसकी माता है। यही देश प्रेम और महत्व राम के मुँह से आदि-कवि वाल्मीकी ने भी कहलवाया, 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।' रामायण महाकाव्य का यह वचन उस समय की भावना को स्पष्ट करता है कि सुवर्ण की नगरी भी अपनी मातृ-भूमि की तुलना में क्या, स्वर्ग भी उसकी तुलना में कुछ भी नहीं है। यह

भावना देश के प्रति जागृत की जाती थी। देश कितना लम्बा चौडा व विस्तृत है, उस हेतु सारे देश को मूर्त रूप में भी कल्पित किया जाता था। देश का भ्रमण तीर्थ यात्रा के वहाने हो जाता था और देश की भूमि से देशवासी परिचित हो जाता था। सारे देशवासी अपनी व्यक्तिगत भावना के कारण, देश की रक्षार्थ संगठित हो जाते थे और इससे राष्ट्र-शक्ति का उदय होता था। यही तो क्षात्र-शक्ति होती थी जो किसी एक भूमि खंड के लिए ही नहीं वरन् सारे देश की भूमि के किसी भी भाग के लिए रक्षार्थ तत्पर हो जाती थी। इस समय, ऐसी राष्ट्र की भावना का सर्वथा लोप था।

चतुर्थ वीसलदेव ने तीर्थ यात्रा करते सारे उत्तर भारत को मलेच्छ विहीन कर दिया और अपने ऊपर उल्लेखित शिलालेख के अनुसार उसने आने वाले वंशजों पर अपने संकल्प को पूरा करने का दायित्व भी सौंपा। यह एक स्पष्ट उद्देश्य था जो तर्क सम्मत एवं परम्परा के समर्थन में, सारे देशवासियों के लिए ग्राह्य था। पर जव शासक ऐसे संकल्प या ध्येय से च्युत हो जाता है तव उसके विचार राष्ट्रीय न रहकर केवल अपने राज्य की रक्षा मात्र तक के स्वार्थ तक सीमित रहते हैं। ऐसे शासक की सेना अपने वेतन के लिए लड़ती है और सैनिक की आस्था मातृ-भूमि के लिए उतनी वलवती नहीं रहती है। क्षात्र-शक्ति को इस कारण निर्वल वनना पड़ा। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि जड़ पदार्थों की पूजा का माहात्म्य झूठा सिद्ध होने लगा और धर्म के प्रतीक (मन्दिर-मूर्ती) को रक्षा करना जीवन का एक मात्र लक्ष्य नहीं रहा। राजा(शासक) सदैव से परमात्मा का रूप(अंश)माना जाता रहा है पर उसके व्यक्तिगत-जीवन की दुर्वलतायें उसमें स्थापित दिव्य भाव को अवश्यमेव कम कर देती हैं। अस्तु क्षात्र-शक्ति को संगठित एवं निरन्तर जागरूक रखने हेतु, कोई एक स्पष्ट ध्येय न होने के कारण, वह स्वतः कमजोर होने लगी।

सुखविलास एवं सम्पदा की विपुलता के कारण देश में राग-रंग और ललित कलाओं की सौन्दर्यगरिमा चारों ओर व्याप्त थी। क्षात्र-शक्ति का उद्भव रणक्षेत्र में होता है और वर्षों की शान्ति ने उसमें निष्क्रियता ला दी थी। ईर्षा, कुलाभिमान का अहंकार, वैभव-प्रदर्शन, सुन्दर स्त्रियों का जमाव, आडम्बर युक्त पूजा-पाठ, वैभवशाली मन्दिरों का निर्माण और षड्यन्त्रों की वुनाई का वह काल था। काव्य की शृंगारिक कल्पनाओं में विभोर शासक-वर्ग इन्द्रतुल्य सुख भोग रहे थे। क्षात्र-शक्ति भी कुंठित

होकर शांत थी। ऐसे समाज पर इस्लाम का आक्रमण एक खरगोश पर भूखे भेड़िये के झपटने के समान था। वीर शासक और उनकी वीर सेनायें कटती गईं। भारत की जग विदित वीरता और सैनिकों का शौर्य कुन्ठित हो गया। यूनानी इतिहासकार का मत था कि उस समय सारे एशिया महाद्वीप में बसने वाली जातियों में हिन्दू लोग ही सबसे अधिक वीर थे।[1] पर उपर्युक्त देशकाल में उनकी वीरता भी कुंठित हो गई।

इस सब विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि उस समय क्षात्र-शक्ति के हेतु युद्ध एक धर्म था। वह एक 'मरण का त्यौहार' माना जाता था। इस कारण युद्ध में भी आदर्शवाद ने अपना सिक्का जमा दिया था। धर्म-युद्ध की धारणा ने उन्हें गौरवान्वित तो किया पर यह पतन का कारण भी हुई।[2] शहाबुद्दीन ने छल-नीति से युद्ध विराम का आश्वसन मांगकर, रात्री में आक्रमण करके पृथ्वीराज को पराजित किया था। ऐसी कूट-नीति का सहारा उस समय की हिन्दू शक्ति नहीं ले रही थी। इस्लामी शासकों ने इस रवैये को भरपूर अपना रखा था। इस काल के कुछ ही वाद के राजनीति संबंधी इस्लामी ग्रन्थों में छल-नीति अपनाने का पूर्ण समर्थन है। इस संबंध में जियाउद्दीन बरनी कृत फतावाये जहाँदारी द्रष्टव्य है।[3] बरनी का मन्तव्य है कि शासक में विरोधी गुणों का होना आवश्यक है जैसे दयावान एवं (क्रूर) अत्याचारी एक साथ होना। ऐसे आदर्श पर स्थिर इस्लामी राजनीति के सन्मुख धर्म-भीरु व मानव प्रेम से आर्द्र हिन्दू शक्ति न टिक सके तो आश्चर्य ही क्या? उस समय के शासन प्रबन्धकों ने कौटिल्य, बृहस्पति आदि आचार्यों के सिद्धान्तों को भूला ही दिया था। इसी कारण वे मुस्लिम गुप्तचरों और आक्रमणकारियों

---

1. 'In war the Indians were by far the bravest of all the races inhabiting Asia at that time,' Arrian's observations on Ancient India. Anabasis, V, 4.

2. 'It was their pride and their tragedy that they enjoyed war as the highest art of all, the only one befitting a Rajput gentleman.' Will Durant in 'Our Oriental Heritage', Ch. XVI, pp. 455.

3. इस रचना के हिन्दी अनुवाद हेतु देखिये 'तुगलुक कालीन भारत,' भाग 2, पृष्ठ 275 से 325, प्र० अलीगढ़ मुस्लिम यूनीवर्सिटी।

की धूर्तता के शिकार होते गए। धन-सम्पदा, सैनिक और शौर्य के गुण होते हुए भी उस समय कोई चाणक्य प्रकट न हो सका जो देश को और शासक-वर्ग को सही दिशा का संकेत कर सके। क्षत्रिय जाति के इतिहासवेत्ता डॉ० अवध बिहारीलाल अवस्थी भी इसी निर्णय पर पहुँचे हैं कि इस काल में चाणक्य के समान राजनीति के पण्डित की कमी थी न कि चन्द्रगुप्त से वीर शासक की।[1]

इस्लाम का आक्रमण और उसकी विजय में एक लक्ष्य स्पष्ट था और वह था .कुफ्र और .काफिर का ज़ड़मूल से नाश करना। जीव-दया अथवा मानवता के नाम पर कुछ भी रियायत की आशा करना, मृगतृष्णा मात्र थी। इस सम्बन्ध में कुर्आन के स्पष्ट आदेश हैं और इस्लामी राजनीति भी इसी पाक पुस्तक पर सर्वथा आधारित है। बरनी अपने राज-नीतिक ग्रन्थ .फतावाये जहाँदारी में महमूद गजनवी को आदर्श मानता है और इसके बाद के सभी इस्लामी शासकों को उसका वंशज। बरनी की विचारधारा भी दृष्टव्य है, "यदि महमूद एक बार हिन्दुस्तान पर और आक्रमण करता तो ब्राह्मणों को, जो .कुफ्र तथा शिर्क के आदेशों को दृढ़ बनाने का साधन हैं, तलवार के घाट उतार देता और लगभग दो सौ तीन सौ हजार हिन्दू नेताओं की गर्दन कटवा देता। जब तक समस्त हिन्दुस्तान इस्लाम स्वीकार न कर लेता और कलमा न पढ लेता, हिन्दुओं की हत्या करने वाली तलवार को मियान में न रखता........यदि महमुद द्वारा ये दो बड़े कार्य सम्पन्न हो जाते तो पता नहीं खुदा तथा रसूल के निकट उसका क्या सम्मान हो जाता।" बरनी अपने समकालीन मुस्लिम शक्तियों को महमूद के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है और महमूद की शासन व्यवस्था का उल्लेख करते लिखता है, "महमूद अपने अल्पकालीन राज्य-काल में सर्वदा धर्म तथा शरीअत के विरोधियों एवं शत्रुओं के विनाश एवं उनके अपमानित करने का प्रयत्न करता रहा। अपनी धर्मनिष्ठता के कारण उन्हें सर्वदा अपना शत्रु समझता रहता था। वह उनके उपहारों तथा

1. 'It is clear that the country lacked Chanakya and not Chandra Gupta in the age under review.' Indian Nationalasim by Dr. A. B. L. Awasthi (Lucknow).

उत्तम वस्तुओं को प्रस्तुत करने से प्रभावित न होता था और उनकी ओर प्रेम की दृष्टि से न देखता था। इसी कारण ईश्वर की कृपा से महमूद का कोई शत्रु भी उस पर विजय न प्राप्त कर सकता था।[1]

इस्लाम मजहब में सहिष्णुता नहीं थी और हिन्दू अपनी इस जन्मजात सहिष्णुता से च्युत न हो सका। इस प्रकार केले और बेर के पेड़ों का साथ साथ निर्वाह होना असम्भव था। इस सम्पर्क में अथवा संघर्ष में हानि केले के समान कोमल भावना वाली हिन्दू शक्ति की ही हुई। इस्लाम और हिन्दू-भारत के संघर्ष का यदि भूनीति (Geopolitics) के सिद्धान्तों के आधार पर निर्णय करें तो तथ्य खरे रूप में स्पष्ट हो जावेंगे। अरब की मरूभूमि में इस्लाम का जन्म हुआ। वहाँ की निर्जल भूमि में उदर पोषण और जीविका के साधनों के अभाव में वहाँ के निवासियों को साहसिक यात्रायें करनी आवश्यक हो गई। इन भौगोलिक कारणों से वे लोग शस्त्रों से सुसज्जित होकर पूर्व में भारत की ओर पश्चिम में स्पेन की पिरीनीज पर्वत श्रेणी तक पहुँचे। उनकी धर्म पुस्तक में जिस जन्नत का वर्णन था, उसके वास्तविक ऐश्वर्य का आनन्द, उन्हें भारत में मिला। विजयी होने पर अथवा शहीद होने पर उन्हें स्वर्ग का सुख नसीब था। वे सदैव उत्साहित होकर युद्ध रत रहे। भारत का हिन्दू समाज इस काल से पूर्व से आए यूनानियों, शकों और हूणों को अपने में आत्मसात कर सका पर इस्लामी विजेता कभी भी अपनी मूल-भूमि और मजहबी प्रेरणा के स्रोत को नहीं भूले। दिन में पांच बार काबे की ओर मुँह कर, वे अपनी आदि-भूमि, खलीफा का तथा पेगम्बर साहब का स्मरण कर लेते थे। इस तरह संगठन में ढ़िलाई कतई न आई और विजेताओं का भारतीयकरण न हो सका। न उन में दया अथवा करुणा का संचार हुआ और न सहिष्णुता उन्हें छू भी सकी। इस्लाम का यह पक्ष क्रूर और अमानवीय भले ही रहा है पर विजय का यह मुख्य कारण रहा है। हिन्दू क्षात्र-शक्ति इस पक्ष के प्रतिउत्तर में अपना स्वभाव न पलट सकी और पराजय का वरण करती रही।

इस विवेच्यकाल में देश टुकड़ों में बँटा था और शासक-वर्ग मय अपनी प्रजा के सुखविलास में मग्न था। इस असंगठित दशा को निर्बल ही मानते हैं क्योंकि इन विभिन्न सामन्तों पर किसी केन्द्रिय शक्ति का

1. यह दोनों अवतरण हिन्दी अनुवाद (वही) के पृष्ठ 279 पर हैं।

नियन्त्रण न होने से वे अपना निर्णय लेने में स्वतन्त्र थे। युद्ध में भी जब यह सामन्त जाते थे तो इनकी सेनायें इनसे आदेश लेती थी। इन विभिन्न सेनाओं की आस्था अपने अपने सामन्तों में भी ही रहती थी। कहने का तात्पर्य यह है कि शत्रु का सामना करने को तत्पर हो जाने पर भी एक अनुशासन में न रहने के कारण, क्षात्र-शक्ति विकेन्द्रित ही रहती थी। व्यक्तिगत वीरता एवं शौर्य का प्रदर्शन करना इस काल में बहुत प्रमुख रहा है। ठीक यही दशा यूरोप के मध्यकाल के इतिहास में भी दृष्टिगोचर होती है। भारत तथा यूरोप की दशाओं की तुलना करते, इन दोनों का एकसी होने का मत, विल डूरेन्ट का भी है। स्वामी-भक्ति, वीरता, सौन्दर्य की उपासना, षड़यन्त्र, विष का प्रयोग हत्यायें, युद्ध और रमणियों का अपहरण इस काल की दोनों देशों की विशेषतायें रही हैं।[1] इन दोनों देशों में इस्लाम का प्रसार हुआ। भारत में इस्लाम कच्छ के सोमनाथ और कन्नौज के भी आगे पूर्व तथा दक्षिण में फैलने लगा पर यूरोप में वह स्पेन के आगे नहीं बढ़ सका जब कि यूरोप भी सामन्त प्रथा से पीड़ित था। इसका मूल कारण था वहां के पोप का नियंत्रण। पोप के आदेश से वे सभी संगठित हुए और टूर्स (सन् 732 ई०) के युद्ध में अरबों को पराजित कर, इस्लाम की प्रगति को रोक दिया। पोप के आदेश में प्रेरणा थी कि यदि ऐसा न किया गया तो यूरोप की ईसाइ जातियाँ समूल नष्ट हो जावेंगी। इतिहासकार गिब्बन ने ठीक ही लिखा है कि यदि इस संग्राम में इस्लाम की विजय हो जाती तो आज ऑक्सफर्ड और केम्ब्रिज विश्वविद्यालयों में मुसलमान प्रोफेसर कुरान पर विद्यार्थियों को व्याख्यान देते होते। इस विजय को इतिहास में महत्वपूर्ण माना जाता है। इसके आधार भूत कारण जो भी हैं पर उनका समकालीन भारत में सर्वथा लोप है। देश में मन्त्रणा का कार्य और नीति का निर्धारण विद्वान (ब्राह्मण) के हाथों से निकल गया। वह ब्राह्मण स्वंय इस पुनीत कर्त्तव्य को छोड़कर 'पुण्य का पुरोहित' बन गया। वह एक प्रकार से ठेकेदार बन गया। दान पुण्य से सभी कुछ प्राप्त करने हेतु मन्दिरों का निर्माण और कर्म काण्ड का बोलबाला

---

1. 'All the nonsense and glamor – all the bravery, loyalty, beauty, feuds, poisions, assassinations, wars, and subjection of women – which our tradition attach to the Age of Chivalry can be found in the annals of these plucky states.' Ibid., Chapter XVI, page 455.

सर्वत्र फैला हुआ था । यह अवस्था धर्म की झूठी आस्था तथा जड़ पदार्थों के माहात्म्य पर विचार करते समय ऊपर प्रस्तुत की जा चुकी है ।

देश की क्षात्र-शक्ति अपने आपको धर्म-युद्ध के सिद्धान्तों से अनुप्राणित रखती थी । मनुस्मृति ने जिन आर्य परम्पराओं को शास्त्र-बद्ध किया है, वे तो उन्हीं पर लागू होनी थीं जो उनके अनुशासन में रहने का आश्वासन देते थे । इस्लाम के आक्रमणकारियों ने कभी इन आर्य नियमों को नहीं माना पर क्षात्र-शक्ति इनका पालन करती रही । मनु की आज्ञा (अध्याय 7 श्लोक 93 में) है कि—

नायुध व्यसन प्राप्तं नार्त्तं नाति परिक्षतम् ।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्म मनुस्मरन् ।।93।।

'ऐसे व्यक्तियों का वध उचित नहीं, जिसके शस्त्र नष्ट हो गये हों, जो शोक-विदग्ध हों और जिन्हें चोट बहुत लग गई हो, जो बहुत डर गये हों और जो युद्ध से परावृत्त हो गए हों ।" हिन्दू क्षात्र-शक्ति इन परम्पराओं का पालन करती थी । इसका ज्वलन्त उदाहरण शोकाकुल शहाबुद्दीन को तरावड़ी के प्रथय युद्ध में मुक्त करना है । इसके ठीक विपरीत इस्लामी सेनाओं का आचरण था । धर्म युद्ध की लीक पीटते पीटते हिन्दू इतने पिट गए कि दासता ही उनके पल्ले पड़ी ।

सैन्य-सञ्चालन और शस्त्रों का प्रयोग भी विजय हेतु बहुत ही महत्वपूर्ण रहता है । पुराणों में वर्णित पुरातन व्यूह रचना में सबका विश्वास जमा रहा । यह सूची, श्येन, मकर, मण्डल, शकट आदि व्यूह और सेना के अंगों की अरिष्ट, अचल, अप्रतिस्त आदि की जमावट, तुर्कों के सामने नहीं टिक सकी । यह सब सजावट तो बल प्रदर्शन हेतु होती है, जब कि विपक्षी धर्म-युद्ध के लिए कटिबद्ध हो । सेना के पास वही ढाल, तलवार, भाला, तीर, कटार आदि अस्त्र-शस्त्र होते थे और उनका प्रयोग भी उसी पुरातन परम्परानुसार होता था । इस दिशा में किसी भी प्रकार की उन्नति अथवा मौलिक विकास नहीं हुआ । हिन्दू युद्ध में अपनी पूरी सेना झोंक देते थे जबकि तुर्क अपनी सेना का चुना हुआ अंश शेष (Reserve) में अवश्य रखते थे । यह अवसर पाकर मैदान में उतरता

था और झपट्टा मार कर विपक्षी को चौंका देता था। इस कारण विजय भी शीघ्र प्राप्त होती थी। पर्वताकार हाथियों की दिवार सेना के सामने खड़ी की जाती थी और जब इन हाथियों को भगाने में विपक्षी समर्थ हो जाता था तो यही हाथी अपनी ही फौज को रौंद डालने में पर्याप्त होते थे। तुर्कों ने दौड़ते घोड़ों पर से बाण चलाने की कला में दक्षता प्राप्त करली थी, जो उनके लिए बहुत श्रेयकर हुई। आक्रमण द्वारा आतंक फैलाने और आतंकित करने की पद्धति इस्लाम विजय का एक कारण अवश्य है पर इस आतंक (Shock treatment) का प्रतिवाद धर्म भीरू हिन्दू सोच ही नहीं सका। जब कभी इस्लामी पक्ष ने कूट-युद्ध का सहारा लिया, वह सदैव विजयी ही रहा। इसका उदाहरण जयपाल का गजनी-अभियान है। सुबुक-तगीन के सामने, उसकी विशाल सेना को हारना पड़ा क्योंकि वह सामने आकर तो लड़ता ही नहीं था पर पाँच पाँच सौ सवारों की टुकड़ियों से हिन्दू सेना पर झपट्टे मार कर, उसे क्षीण करता गया। तुर्कों ने भारत की नदियों को पार करने के लिए नए प्रकार की नावें और उनके पुल ईजाद किए। इन नावों के चारों ओर नुकीले लोहे के फल लगे होते थे जो विपक्षी नावों को टक्कर द्वारा छेद देते थे। ऐसे मौलिक सैन्य-आविष्कारों में आक्रमणकारी सदैव जागरूक रहा। वे बल के अतिरिक्त कल (हिकमत) और छल का पूरा सहारा लेते थे। इस दिशा में यूनानी आक्रमणकारी भी आगे रहे थे और उनकी परम्परा तुर्कों ने भी खूब निभाई। इस्लाम के प्रथम आक्रमण में ही उनकी सूझ का लोहा मानना पड़ता है। मोहम्मद बिन कासिम को जब यह मालूम हुआ कि देवल बन्दरगाह के किले में जो 40 गज ऊँचा मन्दिर है, उसके झण्डे में एक तिलस्म (टोटका) बँधा है और उस पर सारे ब्राह्मणों (हिन्दूओं) का विश्वास है, तो मोहम्मद ने बिना किला जीते इस झण्डे का पतन करना चाहा। उसने अपने संग मजनीकी (गोफनवाले) लिए जिन्होंने तीन चोट में झण्डे और गुबंद (शिखर) को उड़ा दिये। इस कार्य के लिए पाँच बड़ें मजनीक (गोफन) और किले को तोड़ने का सामान नावों में लादकर अरब से लाया गया था। देश की क्षात्र-शक्ति के पास अदम्य वीरता थी पर वह भला अकेली तुर्कों के कल तथा छल से समर्थित वीरता का सामना, किस प्रकार कर सकती थी ?

मोहम्मद गजनवी के सोमनाथ आक्रमण के पश्चात, सिन्ध को पार करते, जब मुस्लिम सेना को, जाटों ने लूटा था तो उस समय तो गजनवी

पिट पिटा कर चला गया पर प्रतिशोध की भावना लेकर वह पुनः शीघ्र ही लौटा। इस्लामी-शक्ति का यह रवैया रहा है और इससे आतंक बढ़ा है और भय स्थायी बना रहा है। हिन्दू-शक्ति ऐसे अवसरों को सहिष्णु बनकर टालती रही और आने वाले कई सौ वर्षों तक परिणाम भुगतती रही। इस सहिष्णुता के किटाणु तो आज भी हमारे राष्ट्रीय रक्त में संचारित हैं।

उपर्युक्त चर्चा से इतना तो स्पष्ट हो जाता है पतन के मुख्य कारण, राष्ट्रीय-भावना का लोप, सुख-विलास का जीवन, धर्म का आडम्बर, सैन्य संचालन की रूढ़िगत परम्परा, राजनीति में कूटनीति को स्थान न देना, देश का खण्डों में बंटा होना, वर्ण व्यवस्था के कारण केवल क्षत्रिय जाति का लड़ना और जागरूक न रहना हैं। इस्लाम के गुप्तचर कई वेश धारण करके आते रहे पर देश ने अपनी ओर से ऐसी कोई व्यवस्था नहीं की। देशवासी सदैव बचाव में रहे, मानवता के नाते शत्रु के संग मानवीय, प्रतिशोध रहित व्यवहार करते रहे, इससे शत्रु का नाश नहीं हुआ। इन सब देशकाल जन्य दुर्बलताओं के होते हुए भी कोई दूरदर्शी चाणक्य सामने नहीं आया जो इस्लाम के आतंक को, उसके जिहाद के नारे को, नव-मुस्लिमों के पलायन को रोक कर, क्षात्र-जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देकर, छल-नीति का सामना कूट-नीति से करता। राष्ट्र को संगठित कर, त्याग की भावना उत्प्रेरित कर. लक्ष्यसिद्धि के संकल्प को सिद्ध करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं हुए। महाकवि भारवी ने राजनीति का रहस्य द्रौपदी के मुँह से ठीक ही कहलवाया था कि 'कपटी मनुष्यों के साथ जो छल का व्यवहार नहीं करता, वह मूर्ख होता है और सदैव अपमान और तिरष्कार को प्राप्त करता है। ऐसे मूर्ख मनुष्य को मायावी दुष्ट शत्रु तीखे तीर की तरह भेद देता है। सदैव अहित चाहने वाले, तत्पर शत्रु से सतर्क एवं सावधान रहने के हेतु, समय की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए।'

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभव भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
प्रविश्य हि घनन्ति शठास्तथाविधान् असंवृताङ्तान् निशिता इवेषवः॥
न समय परिरक्षणं क्षमं ते निकृति परेषु परेषु भूरिधाम्नः।

फलस्वरूप, इतनी व्याधियों के होते, राष्ट्र का जर्जरित शरीर भला क्यों नहीं हतश्री होता? 'किमौषध पथातिगैरुपहतोमहाव्याधिभिः।'

—०—